चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 15 अंक 3 **जनवरी-मार्च 2018**

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	मनुस्मृति और मनुवाद *शंकर शरण*	7
2.	ललित निबंध भूमण्डलीकरण का बाज और साहित्य-संस्कृति की चिरैया *डॉ. श्रीराम परिहार*	13
3.	ग़ज़ल की जमीन हिन्द ने तैयार की है *डॉ. नित्यानन्द श्रीवास्तव*	21
4.	सरहपा की कविताओं में लोकधर्मी प्रतिरोध की चेतना *दिवाकर दिव्य दिव्यांशु*	35
5.	पूर्णियाँ अँचल के लोकगीतों की बहुरंगी छवियाँ *डॉ. छोटे लाल बहरदार*	43
6.	आबादी और संसाधनों का रिश्ता *डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल*	52
7.	सूफी कवि जायसी और उनका सौन्दर्य-बोध *विजय बहादुर सिंह*	55
8.	आंचलिकता की सोंधी महक *डॉ. सुभद्रा राठौर*	67
9.	अज्ञेय के बिम्ब *मनमीत कौर*	71

10. राजनीति से दूर होता साहित्यिक व सांस्कृतिक विमर्श 76
कृष्ण कुमार यादव

11. कहानी के अन्तश्चैतन्य और अन्तश्चारित्र्य के वैशिष्ट्य का आलेखन 81
निशान्तकेतु

12. काव्य परिदृश्य का सटीक उद्‌घाटन 84
डॉ. लव कुमार

13. हिन्दी साहित्य में भोपाल की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान 87
कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

14. लोक जगत में जगतीकरण की सेंध 99
डॉ. श्यामबाबू शर्मा

15. आई.पी.ए. का प्रपंच और हिन्दुस्तानी का बदलता स्वरूप 106
कृपाशंकर सिंह

16. महात्मा गाँधी और वर्तमान चिन्तन 112
प्रदीप जुगरान

17. समीक्षा 117
'देखा मैंने' : एक प्रामाणिक दस्तावेज़
क्रान्ति कनाटे

18. पुस्तक समीक्षा 121
कविता क्या है
अजिता त्रिपाठी

पाठकीय प्रतिक्रिया 124

प्राप्ति-स्वीकार 125

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

प्रकृति के साथ जीने की कला

भगवान बुद्ध ने पाटलीपुत्र (पटना) के विषय में कहा था कि इस नगर को बाढ़, आग और आंतरिक कलह से सदा खतरा बना रहेगा। बाढ़ का खतरा तो पाटलीपुत्र आज भी झेल रहा है। अप्रत्याशित वर्षा से आयी बाढ़ से देश के अन्य नगरों की तरह यह नगर भी पीड़ित है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा हमारे लिए नयी नहीं है। बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ आती-जाती रहती थी और हमारे लोग उसके साथ रहना सीख चुके थे। बाढ़ आने के पहले ही वे उन वस्तुओं को जमा कर लेते थे, जिसकी आवश्यकता प्रायः ऐसे समय पड़ती रहती है। स्पष्टतः हमारे लोगों ने प्रकृति के साथ जीने की कला मालूम थी। फिर समाज भी पीड़ित पड़ोसियों की मदद को सदा तत्पर रहता था। आज स्थिति बदल गयी है। समाज की आन्तरिक प्रक्रिया जिसमें साधन सम्पन्न व्यक्ति पीड़ित की मदद को सदा तत्पर रहता था, रुक गयी है। ऐसा इसलिए हुआ कि नेहरूवादी/मार्क्सवादी सोच की तहत यह काम राज्य का माना जाने लगा। और फिर सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा, आन्तरिक न्याय व्यवस्था, शिक्षा से लेकर होटल चलाने तक का काम ले लिया और सब कामों में बुरी तरह से असफल रही।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, समाज, बाढ़ जैसे आपदाओं के साथ जीना सीख चुका था। फिर सहायता वही लेते थे, जो पीड़ित होते थे। समाज में आये नैतिक क्षरण के चलते आज साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी, आपदा के समय, सरकार पर दबाव बनाकर, उसका लाभ लेने लगे हैं।

प्राकृतिक आपदाओं के समय पीड़ितों की सहायता सरकार को करनी ही चाहिए। इस काम में ढिलाई पर मेडिया एवं सरकार विरोधी दलों को नजर रखनी ही चाहिए। साथ ही आवश्यक है कि समाचार तंत्र गलत तथा बढ़ा चढ़ाकर की गयी रिपोर्टिंग से बचें, तथा विरोधी दल भी सरकार पर अनावश्यक तथा गलत दबाव न बनायें ताकि सरकार के अन्य आवश्यक कार्य बाधित न हों।

— ब्रज बिहारी कुमार

मनुस्मृति और मनुवाद

शंकर शरण*

हमारे देश में अनेक गौरवपूर्ण सूक्तियों का स्रोत मनुस्मृति नामक महान ग्रन्थ है। जैसे, धर्मो रक्षति रक्षितः। लोग इसे इस संक्षिप्त रूप में ही जानते हैं। जबकि इसका पूरा श्लोक और भी गम्भीर अर्थ रखता और कालजयी साबित हुआ है। पूरा श्लोक इस प्रकार है, 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्'। अर्थात् मरा हुआ धर्म मारने वाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है इसलिए धर्म का हनन कभी न करो, ताकि मारा हुआ धर्म हमें न मार डाले। यह कोई अकेला श्लोक नहीं, मनुस्मृति के आठवें अध्याय में सभी श्लोक इसी बिन्दु पर हैं, जिन्हें पढ़कर कोई स्वयं देख सकता है कि उनमें से किसी एक की भी मूल्यवत्ता आज भी कम नहीं हुई है। उसे आज बेकार मानना तो दूर रहा।

उसी तरह, मनुस्मृति की एक अन्य प्रसिद्ध उक्ति है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'। पुनः यह श्लोक, बल्कि इस विषय पर भी पूरी श्लोक-शृंखला जिस उदात्त दर्शन की झलक देती है, वह पश्चिमी चिन्तन में आज भी नहीं मिलेगी। आज के किसी भी फेमिनिस्ट लेखन-दर्शन में जो बातें आती हैं, उससे कहीं बढ़कर मनुस्मृति में नारियों के सम्बन्ध में चिन्ता और व्यवस्था दी गई है। उदाहरण के लिए, इसी उक्ति का पूरा श्लोक पढ़कर देखें, जिसे कम ही लोग याद करते हैं। उसकी अगली पंक्ति है, 'यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः' अर्थात्, जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ किए गए कार्य सफल नहीं होते। स्त्रियों को नीचा समझने या निरादर करने के विरुद्ध क्या इससे बढ़कर कोई चेतावनी या भर्त्सना हो सकती है?

मनुस्मृति ऐसी अनमोल शिक्षाओं से भरी पड़ी है। पर स्वतन्त्र भारत का दुर्भाग्य, कि इसे पढ़ने-गुनने के बदले केवल और केवल इसकी भर्त्सना की जाती है! कितना दुःखद है कि सन् 1947 के बाद पहले तो हमने अपने महान शास्त्रों को शिक्षा

* प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली। सम्पर्कः 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-110016

से ही बाहर कर दिया। फिर उस पर विदेशियों, कम्युनिस्टों या राजनीतिक एक्टिविस्टों की नासमझ निन्दा से प्रभावित हो उसे त्याज्य बना लिया। यहाँ तक कि कुछ लोगों द्वारा मनुस्मृति जलाने का मूर्खतापूर्ण अनुष्ठान चलता है। प्रश्न है, कि ऐसा करने के बदले या पहले कभी उस पर गम्भीर, आलोचनात्मक विचार-विमर्श क्यों नहीं हुआ? वस्तुतः इस महान पुस्तक को जलाने वाले, तथा उसे जलता देखने वाले, दोनों तरह के भारतीय भारी अज्ञानी और असावधान हैं। वे शत्रुओं के हाथों खेल रहे हैं।

जितने भी आलोचकों, निन्दकों से पूछें कि क्या उन्होंने मनुस्मृति स्वयं उलट कर पढ़ी है, और उसमें कोई गन्दी, उत्तेजक या अनुचित बात पाई है? तथा, दूसरों द्वारा भी बताया गया ऐसा कोई अनुपयुक्त श्लोक या सन्दर्भ उन्हें याद है, जिससे वे पुस्तक को निन्दनीय समझें? लगभग सभी उत्तर ना में देंगे। मगर कहेंगे कि, 'सुना है उसमें शूद्रों या स्त्रियों के बारे में कुछ आपत्तिजनक है।'

सच्चाई यह है कि यदि शीर्षक हटाकर मनुस्मृति को किसी भी शिक्षित, विचारवान समूह को पढ़ने दिया जाए, तो अधिकांश उसे महान ग्रन्थ मानेंगे। मनुस्मृति में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है। न वह कभी, किसी राजा का 'कानून' था, जो प्रायः मान लिया जाता है। भारतीय मनीषा में वह उसी प्रकार ज्ञान, धर्म, विचार और चिन्तन का एक समादृत ग्रन्थ रहा है जैसे वेद, उपनिषद्, महाभारत, आदि दर्जनों और भी रहे हैं। उनकी बातें कभी, किसी पर बाध्यकारी न थीं। लोग उनकी उपयोगिता से उनका आदर करते रहे, पढ़ते-पढ़ाते रहे। आज भी वही स्थिति है।

फिर भी तर्क के लिए, यदि मान भी लिया जाए कि मनुस्मृति में कोई अनुपयुक्त बात है, तब भी उसकी समालोचना पर्याप्त होती। आखिर वह कम-से-कम चार हजार वर्ष पुरानी पुस्तक है! उस काल में इतना गहन चिन्तन पूरे विश्व में कहाँ था? यूरोप, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया तब जंगली अवस्था में थे, जब यहाँ ऐसे शास्त्र रचे गए, जिनकी बातें आज भी चमत्कृत करती हैं। जरा 'मनुस्मृति' पढ़कर तो देखें!

वैसे भी, आज के नजरिए से किसी पुरानी पुस्तक में कोई नापसन्द बात मिलने पर भी उसे अपमानित करना हर हाल में गलत है। इसीलिए 'ओल्ड टेस्टामेंट' या 'कुरान' जैसे प्राचीन ग्रन्थों को सम्मान दिया जाता है, जबकि उसमें अनबिलीवर, पगान या दूसरे धर्म-विश्वासियों के लिए अत्यन्त अपमानजनक बातें लिखी मिलती हैं। उस दृष्टि से आज दुनिया में कम-से-कम चार अरब लोग अनबिलीवर, पगान, काफिर, आदि हैं। तो क्या इन चार अरब अनबिलीवरों, पगानों, काफिरों को उन पुस्तकों को जलाने का अधिकार है? हर संजीदा व्यक्ति कहेगा। बिल्कुल नहीं। तब वही संजीदगी मनुस्मृति के लिए क्यों नहीं दिखाई जाती? जिसमें किसी के लिए भी वैसा कुछ लिखा भी नहीं है। यह कोई पाठक स्वयं देख सकते हैं।

मनुस्मृति के 12 अध्यायों में कुल 1214 श्लोक हैं। इनमें क्रमशः सृष्टि, दर्शन, धर्म-चिन्तन, सामान्य जीवन के विधि-विधान, गृहस्थ-जीवन के नियम, स्त्री, विवाह, राज्य-राजा सम्बन्धी परामर्श, वैश्य-शूद्र सम्बन्धी कर्तव्य, प्रायश्चित, कर्मफल विधान,

मोक्ष और परमात्मा चिन्तन है। कुछ प्रकाशनों में मनुस्मृति में इसके दुगने से भी अधिक श्लोक मिलते हैं। किन्तु इनमें कई स्पष्टतः प्रक्षिप्त माने गए हैं, यानी जो मूल श्लोकों से टकराते हैं। आधिकारिक विद्वानों के अनुसार अनेक प्रकाशनों में आधे से अधिक श्लोक मूल मनुस्मृति के नहीं हैं।

इसके अलावा यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द की तमाम शिक्षाओं, सेवा और जीवन-कर्म का आधार वेद, उपनिषद् और मनुस्मृति हैं। अर्थात्, सम्पूर्ण भारतीय समाज की जो सेवा इन महापुरुषों ने की, जिसके लिए देश उन्हें कृतज्ञता से नित्य स्मरण करता है, उसकी प्रेरणा उन्हें वेदान्त और मनुस्मृति से ही मिली है। स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' मनुस्मृति के उदाहरणों से भरा पड़ा है। तो स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने मनुस्मृति को अधिक समझा था या आज के हमारे नासमझ एक्टिविस्ट, जो समाज को तोड़ने, लड़ने के लिए (बिना पढ़े!) मनुस्मृति पर नियमित कालिख पोतते रहते हैं?

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति को अपने उपदेश और समाज-सुधार का आधार बनाया था। यदि मनुस्मृति जातिवादी, शूद्र-विरोधी या स्त्री-विरोधी होती, तो वे सम्पूर्ण भारत में इतना बड़ा आधुनिक, समतामूलक, प्रभावशाली सुधार और चेतना का अखिल भारतीय गौरवशाली आन्दोलन चलाने में कैसे सफल हुए होते? याद रहे, उनके कार्य को ही आधुनिक भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन का बुनियादी आधार माना जाता है। उनकी संस्था आर्य समाज ने जितनी बड़ी संख्या में निःस्वार्थ स्वतन्त्रता सेनानी दिए, उतने काँग्रेस ने भी नहीं दिए। अमर बलिदानी भगत सिंह का परिवार भी आर्य समाजी था। यह सब प्रामाणिक इतिहास भुलाकर, केवल विदेशी मिशनरियों के दुष्प्रचार से प्रभावित होकर यहाँ अनेक लोगों ने भ्रमवश या जान-बूझकर मनुस्मृति को निशाना बना रखा है। यहाँ तक कि 'मनुवाद' नामक एक गाली तक गढ़ ली!

वे कभी नहीं सोचते कि मनुवाद क्या कोई वाद भी है या कभी भी था? उदाहरण के लिए, क्या किसी हिन्दू राजा या सम्राट ने मनुस्मृति को कभी अपने शासन या कानून का आधार बनाया था? तब मनुस्मृति को 'हिन्दू कानून' क्यों कहा जाता है? निस्सन्देह, मनुस्मृति की निन्दा करने वाले शायद ही उसे पढ़ने, उसकी व्याख्याएँ या अन्य जानकारी पाने, सोच-विचार करने की कोशिश करते हैं। यदि ऐसा करें, तो उसके प्रति नकारात्मक धारणा वैसे भी बदल जाएगी। केवल राज्य-शासन सम्बन्धी उसके तीन अध्यायों के 574 श्लोक अत्यन्त गम्भीर ज्ञान-भण्डार हैं। उनमें अधिकांश आज भी मूल्यवान प्रतीत होते हैं। मनुस्मृति की अधिकांश निन्दा मनमानी कल्पनाओं, सुनी-सुनाई और गढ़े गए तर्कों पर चलती है।

यह स्वतन्त्र भारत की वह दुर्दशा है जो अँग्रेजों, मुगलों के शासन में भी नहीं थी। हिन्दू ग्रन्थों की निन्दा करने वाले उसे शायद ही पढ़ते हैं। पर किसी वाक्य या शब्द को पुस्तक के सन्दर्भ से अलग कर, और बिना अर्थ समझे, निन्दा करना नासमझी या धूर्तता ही है। किसी संज्ञा से आज के किसी समूह को मनमाने जोड़ दिया

जाता है। फिर उससे जुड़ी किसी खास बात को निन्दा हेतु चुन लिया जाता है। जैसे, 'शूद्र' का अर्थ और स्थिति। हिन्दू परम्परा में शूद्र एक वर्ण है, जन्म-जाति नहीं। वर्ण भी विशिष्ट कार्यों से जुड़े हैं, जन्म से नहीं। तब भी, शूद्र की स्थिति हीन नहीं बताई गई थी। शूद्र भी चार वर्णों में एक सवर्ण था, जिसका सम्मानपूर्ण स्थान था।

कवि निराला ने अपनी महान कविता 'तुलसीदास' में लिखा है कि भारत में शूद्रों की स्थिति पहले सम्मानजनक थी। वह इस्लामी शासकों के काल में ही हीन हुई। निराला के शब्दों में, 'रक्खा उन पर गुरु-भार, विषम/जो पहला पद, अब मद-विष-सम'। निराला ने स्वयं इसका अर्थ यह बताया है, ''सेवा के लिए जो पहले शूद्रों को पद मिला वह सम्मानहीन हो उनके लिए विष-तुल्य हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर ही इस्लाम शक्ति वाली वह छाया फैली अपना काम कर रही थी।''

फिर, व्यावहारिक उदाहरण भी देख सकते हैं। भारत में कभी भी महान, ज्ञानी, ऋषि, राजा, आदि होने का किसी की जन्म-जाति का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं रहा है। स्वामी विवेकानन्द इसके हाल के उदाहरण हैं। वे शूद्र कहलाने वाली जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने स्वयं इसका सविस्तार उल्लेख किया है। स्वामी विवेकानन्द के अपने शब्दों में, 'मुझे चुनौती दी गई कि एक शूद्र को संन्यासी बनने का क्या अधिकार है। उसका मैं उत्तर देता हूँ। मेरी जाति के लोगों ने दूसरी सेवाओं के अतिरिक्त आधे भारतवर्ष पर कई शताब्दियों तक राज्य किया है। यदि मेरी जाति को गिना न जाएगा तो भारत की वर्तमान सभ्यता का क्या बचेगा? केवल बंगाल में मेरी जाति ने महानतम दार्शनिक, कवि, इतिहासकार, पुरातात्त्विक, धर्मगुरु दिए हैं। मेरे रक्त ने भारत को उसके महानतम वैज्ञानिक दिए हैं। इसलिए इससे मुझे कोई चोट नहीं लगती जब वे मुझे शूद्र कहते हैं।' (9 फरवरी 1897, मद्रास में व्याख्यान)

विवेकानन्द की इन पंक्तियों से शूद्र और दलितवाद के नाम पर चलने वाले सारे बौद्धिक दुष्प्रचार की वास्तविकता देखी जा सकती है। सर्वप्रथम, प्रमाणित होता है कि सौ वर्ष पहले जिन्हें शूद्र माना जाता था, उन्हें अब नहीं माना जाता। दूसरा तथ्य यह सामने आता है कि शूद्र कोई सदैव दबे-कुचले, दीन-हीन-पीड़ित नहीं थे। क्योंकि स्वामी विवेकानन्द बता रहे हैं कि शूद्रों ने आधे भारतवर्ष पर सदियों तक राज किया। इससे तीसरा तथ्य भी दिखता है कि चूँकि वे राजकीय सत्ता पर काबिज रहे, अतः शूद्र वर्ण या शब्द का सैद्धान्तिक-व्यावहारिक अर्थ केवल शोषित-पीड़ित नहीं हो सकता। व्यावहारिक प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है कि अभी, समकालीन, इतिहास में, एक शूद्र अपने ज्ञान और कर्म के बल पर स्वामी विवेकानन्द बनकर, पूरे भारतवर्ष की सबसे सम्मानित विश्व-गुरु जैसी हस्ती हुए।

स्वामी विवेकानन्द कोई अपवाद नहीं थे, जिन्हें भारत ने पूजा। पौराणिक विवरणों से लेकर आज तक इसके असंख्य उदारहण हैं। सत्यकाम जाबालि, ऋषि विश्वामित्र, महात्मा विदुर से लेकर नारायण गुरु, महर्षि अरविन्द तक ऐसे जन्मना 'शूद्र', जन्म से गैर-ब्राह्मण, ऋषियों, ज्ञानियों की लम्बी सूची है, जिनका नाम लेकर सभी हिन्दू गदगद

होते हैं। वस्तुतः वे किसी ज्ञानी, ऋषि की जन्म-जाति की परवाह ही नहीं करते। न जानते हैं, न जानना जरूरी समझते हैं। बताइए, सद्गुरु जग्गी वासुदेव की जन्म-जाति क्या है, यह उनके किसी भी भारतीय शिष्य, पाठक या भक्त को मालूम है? क्या उसे इससे मतलब भी है? वही बात सदा-सर्वदा थी। यही भारतीय हिन्दू परम्परा है।

दूसरी ओर, यह भी पक्की बात है कि भारतीय परम्परा में जन्मना 'उच्च' और 'निम्न' जाति का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। व्यवहार में यदि कभी विकृतियाँ आईं, तो यह शास्त्रों से विचलन का संकेत है। उनके पालन का नहीं। भगवद्गीता में भी जाति की स्थिति इस प्रकार है : 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' श्रीकृष्ण कहते हैं, 'गुण और कर्म' के अनुसार चार वर्ण मेरे द्वारा रचे गए। अतः जिस जन्मना अर्थ में बहुतेरे लोग 'शूद्र' और 'वैश्य' का अर्थ कर शास्त्रों पर उँगली उठाते हैं, वह कभी नहीं रहा। आखिर 'गुण और कर्म के अनुसार' किसी 'वैश्य' का अर्थ गुप्ता, अग्रवाल परिवार में जन्म लेने वाले से नहीं हो सकता। पर वही कर-कर के सारी राजनीतिक, बौद्धिक लफ्फाजी चलती है।

किन्तु तब, उसी हिसाब से, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त सम्राट कैसे हुए? या, यदुवंशी कृष्ण और उनके अहीर भाई-बन्द भगवान, दार्शनिक और शासन कैसे बने? आज का उदाहरण लें, तो सिंधिया या होल्कर जैसे 'शूद्र' बड़े-बड़े राज्यों के संस्थापक और राजा होते रहे हैं।

उसी तरह, अस्पृश्यता भी कर्म-गत रही है, जन्मगत नहीं। महाभारत में अश्वत्थामा को अस्पृश्य कहा गया, क्योंकि उसने पाण्डवों के बच्चों की हत्या की थी। जबकि जन्म से अश्वत्थामा ब्राह्मण-कुल जन्मा था। दरअसल, जातिवाली छुआ-छूत भारत में हाल की सदियों में पैदा हुई। कुछ अछूत मुगल काल में बने। यह वे वीर थे जिन्होंने इस्लाम न कबूल करने के दण्डस्वरूप मैला उठाने का काम स्वीकार किया, और गन्दगी से जुड़कर अछूत कहलाए।

वस्तुतः जिन्हें आज के भारतीय विमर्श में 'दलित' कहते हैं, वे न तो अछूत या नीच थे, न स्वयं को ऐसा समझते थे। सन् 1800 तक जातियों के बीच परस्पर पिछड़ापन अधिक नहीं था। कुल शिक्षितों में 80% गैर-ब्राह्मण थे। यह सब डेढ़-दो सौ साल पहले के ब्रिटिश दस्तावेजों में विस्तार से दर्ज है।

अतः मनुस्मृति का 'शूद्र' आज का फैला समूह या जाति है, यह मनमाना निष्कर्ष है। इसमें घोर बचपना, अज्ञान या राजनीतिक धूर्तता ही है। भारतीय परम्परा में जाति शब्द के ही असंख्य अर्थ हैं। आर्य-जाति, स्त्री-जाति, हिन्दू-जाति, आदि प्रयोग सदैव चलते रहे हैं। फिर यह 'शिड्यूल्ड कास्ट्स' वाली सूची तो सौ साल पहले अँग्रेजों की बनाई हुई है। भारतीय साहित्य या न्याय में कहीं, कोई सूची न थी। इसलिए नहीं थी कि कोई जन्मना-जाति सदा के लिए शासक-शासित, या ऊँच-नीच नहीं होती थी।

किन्तु यह सब झुठलाकर चातुर्वण्य का जबरन ईसाई-मिशनरी, मार्क्सवादी विकृत अर्थ करके उसे 'ब्राह्मणवाद', 'मनुवाद' जैसी गालियों में बदल दिया गया है।

मानो ये गालियाँ ही हिन्दू शास्त्र का अर्थ हों! यह सोची-समझी राजनीति धूर्तता है, जो रोहित वेमुला जैसे अनजान दलितों को हिन्दू धर्म से अलग करने, तोड़ने की खुली साजिश के तहत की जाती है।

आज कौन-सा 'ब्राह्मणवाद' है, जिसके विरुद्ध विषैली भाषणबाजी होती है? सच तो यह है कि जो शरीयत आज भी दुनिया के करोड़ों मुसलमानों पर कानूनन लागू है, जो स्त्रियों, गैर-मुस्लिमों के प्रति क्रूर है, उसे जलाने का विचार किसी को सपने में भी नहीं आता! इसके विपरीत, मनुस्मृति न तो क्रूर है, न उससे आज समाज चलता है, जिसे जलाकर राजनीति की जा रही है। यदि ऐसी मूर्खता या धूर्तता हम नहीं देख पाते, तो हमें अपने पर दया आनी चाहिए।

जिस 'मनुवाद' की निन्दा की जाती है, वह मात्र गाली है। हिन्दू घरों में पाए जाने वाले ग्रन्थों में रामायण, महाभारत, भागवत आदि हैं। तब हिन्दुओं का मूल सामाजिक ग्रन्थ केवल मनुस्मृति कैसे? फिर, हमारे धर्मशास्त्रों में भृगु, पराशर, याज्ञवल्क्य, नारद, आदि असंख्य स्मृतियाँ हैं। किन्तु केवल 'मनु-स्मृति' का ही नाम क्यों लिया जाता है? केवल इसलिए कि ईसाई-मिशनरियों और यूरोपीय लेखकों ने इसके विरुद्ध निरन्तर झूठा प्रचार किया।

अतः पूरे मामले में मनुस्मृति की मूल्यवत्ता का प्रश्न ही गौण है। इसीलिए उसे पढ़ने, समीक्षा करने की बात कभी नहीं की जाती। असली बात इसके बहाने केवल हिन्दू-विरोधी राजनीति को धार देने की है। दलितों को हिन्दुओं से तोड़कर अलग करने का पुराना अन्तरराष्ट्रीय षड्यन्त्र चल रहा है। उसी के लिए मनुस्मृति जलाना, और किसी तरह हिन्दुओं के बीच आपसी विद्वेष, दंगे भड़काना मूल उद्देश्य है।

यह सदियों पुरानी योजना है, जिसके प्रति हिन्दू समाज गाफिल रहा। इस गफलत के कारण ही स्वतन्त्र भारत में भी यह षड्यन्त्र रोका नहीं गया। उलटे 'अल्पसंख्यक' विशेषाधिकार देकर हिन्दुओं को ही हीन अवस्था में डाल दिया गया। तभी तो दलित आड़ लेकर चर्च-मिशनरी और तबलीगी संगठन हिन्दू शास्त्रों तथा हिन्दू लोगों को भी इसी देश में जलाते हैं! जबकि ईसाई, इस्लामी किताबों को छुआ भी नहीं जा सकता। केवल इसी एक तथ्य से दिख जाता है कि वास्तव में कौन असहाय और कौन अत्याचारी है।

वैसे भी, विगत सौ-डेढ़ सौ सालों में दलित समझे जाने वाले लोगों का स्वतन्त्र भारत में काफी उत्थान हुआ है। स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने ही इसे नोट किया था। तब से साठ वर्ष और बीत चुके, जब दलितों में अनेक लोग देश-भर के बड़े-बड़े पदों तथा जीवन के हरेक क्षेत्र में स्थापित होते रहे हैं। यह सब अनदेखा करके अतिरंजित या मनगढ़न्त प्रचार चलाना समाज-विरोधी, हानिकारक काम है। अच्छा हो हम अपने सच्चे ज्ञानियों, महान समाजसेवियों के जीवन, कर्म और शिक्षाओं पर ध्यान दें। अन्यथा हर तरह के राजनीतिक प्रचारक अपने-अपने स्वार्थ या अज्ञानवश हमें डूबा देंगे।

ललित निबंध

भूमण्डलीकरण का बाज और साहित्य-संस्कृति की चिरैया

डॉ. श्रीराम परिहार*

यजुर्वेद में अग्नि के रूप और स्वरूप का वर्णन किया गया है। अग्नि के दो मुख बताए गए हैं। उसकी सात भुजाएँ हैं। तीन पाँव हैं। अग्नि की दो पत्नियाँ हैं। दक्षिण भाग में विराजने वाली 'स्वाहा' है। वाम भाग में 'स्वधा' बैठी है। यज्ञ करते समय दी जाने वाली आहुतियाँ 'स्वाहा' को समर्पित होती हैं, जिससे देवताओं का पोषण होता है। वे तृप्त और सन्तुष्ट होते हैं। तर्पण करते समय दी जाने वाली आहुतियाँ 'स्वधा' को अर्पित होती हैं, जिससे पितर और भूतगण सन्तुष्ट और शान्त होते हैं। अग्नि के तीन पाँव हैं। सात भुजाएँ हैं। तीन नेत्र हैं। एक निश्चित किन्तु सत्य आकृति प्रकट होती। अनुभव होती है। इस मिथक से हमारे समय का सत्य भी उद्‌भावित होता है। 'स्वाहा' के माध्यम से देवात्मा में अनुप्राणित कर्म सम्पन्न होते हैं। 'स्वधा' के माध्यम से भूतों-पितरों के भोग का यजन किया जाता है। अग्नि से यज्ञ-हवन भी होता है। प्रकाश होता है। भोजन बनाया जाता है। विश्व की खाद्य-सामग्री पकाई जाती है। मिट्टी को सुन्दर और उपयोगी वस्तुओं के आकार में ढालकर पकाया जाता है। संसार सुन्दर और आकर्षक हो जाता है। अग्नि जलाती भी है। राख कर देती है। सुन्दर प्रतिमान मिट्टी हो जाते हैं। निर्माण नाश में बदल जाता है। अग्नि के मुख सर्जन और नाश दोनों करते हैं। आग का धर्म है—जलना, ताप देना, जलाकर निर्दोष करना। परिणाम अग्नि की उपयोग-प्रक्रिया पर निर्भर रहते हैं।

विकास के देवता के भी दो मुख हैं। सभ्यताओं और संस्कृतियों के रूप-परिवर्तन और गतिशीलता में विकास की आधार-भूमिका होती है। आज सारे विश्व का भूमण्डलीकरण की स्थिति में पहुँचने का कारण विकास ही है; लेकिन विकास के

*आजाद नगर, खण्डवा-450001

अग्नि-देवता के माध्यम से दी जाने वाली सारी कर्म-आहुतियाँ 'स्वधा' को अर्पित हो रही हैं। भूमण्डलीकरण एक ओर तो आर्थिक समृद्धि, समता, न्याय और विश्वमानव की गरिमा स्थापित करने के द्वार खोलता है। दूसरी ओर वह गम्भीर अशिव परिणामों की ओर भी उन्मुख है। भूमण्डलीकरण विश्व के सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं, सभ्यताओं, संस्कृतियों को एकरूप करने की प्रक्रिया है। उसके तीन नेत्र हैं। उत्पादन, बाजार और उपभोक्ता उसकी दृष्टि में है। अधिक उत्पादन, बाजार में उसकी अधिकाधिक बिक्री और अधिकाधिक लाभ कमाने पर उसकी नजरें रहती हैं। पूँजी, ज्ञान, विज्ञान, तकनीक, संचार माध्यम, धनबल और बाहुबल रूपी सात भुजाओं से वह अपने सकल करम करता है। नवसाम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद और नवसांस्कृतिक साम्राज्यवाद के पैरों से वह चल रहा है। उसकी गति से सारी पृथ्वी एक गाँव की तरह हो गई है। सारा संसार एक बाजार हो गया है। सारे विश्व के मनुष्य उपभोक्ता के रूप में देखे-परखे जाने लगे हैं। अब कोई कबीरा बाजार में लुकाठी लिये खड़ा नहीं दिखाई देता है।

भूमण्डलीकरण विकास, आर्थिक समृद्धि, समता और सुविधा-सम्पन्न जीवन के मन्त्र लेकर विश्वमंच पर प्रविष्ट हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व की राजनैतिक और आर्थिक स्थितियों में बहुत परिवर्तन हुए। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के बाद विश्व के अनेक पराधीन राष्ट्र स्वतन्त्र होते चले गए। नवस्वाधीन राष्ट्रों की अपनी-अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ थीं और हैं। उन्होंने अपनी संस्कृति से राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीयवेश, राष्ट्रीय प्रतीक चुनकर अपनी पहचान स्वीकार की। स्वाधीन राष्ट्रों के सामने अपनी प्रजा को आवास, रोटी, शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा जैसी मूलभूत सुविधाएँ देने के लिए चिन्तन खड़ा हुआ। इसके लिए उन्होंने व्यवस्थित, सन्तुलित और नियोजित आर्थिक विकास का रास्ता चुना। इस कार्य में कुछ सम्पन्न और विकसित देशों ने उनका उत्साह बढ़ाया। आर्थिक सहयोग देने का आश्वासन भी दिया। यहीं से गरीब किन्तु विकसित होते महत्त्वाकांक्षी देशों के लिए ऋण का रास्ता खुला। विश्व बैंक जैसी ऋण देने वाली संस्थाओं का उदय हुआ। विश्व के सभी देशों को राजनीतिक और मानवीय स्तर पर नजदीक लाने हेतु 'संयुक्त राष्ट्र संघ' जैसी संस्थाएँ अस्तित्व में आईं।

विकास की अर्थकेन्द्रित अवधारणा धधकती हुई ज्वाला के समान प्रकट हुई। यह अवधारणा सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय को बढ़ाने को ही लक्ष्य मानती है। इसलिए इसकी विश्वहित विरोधी प्रकृति सामने आ रही है। सम्पूर्ण विश्व विकसित और विकासशील देशों के धड़ों में बँट गया है। पूँजी, शक्ति और सत्ता का धीरे-धीरे केन्द्रीयकरण हो रहा है। विकासशील देशों के पास गरीबी है, लेकिन प्राकृतिक संसाधन भरपूर हैं। अभाव है, लेकिन बाजार के विस्तार की आपार सम्भावनाएँ हैं। पूँजीपति देशों ने अपनी पूँजी उद्योगों में लगाकर, अपने उत्पाद के लिए कच्चा माल इन

देशों से प्राप्त किया और अपने उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री हेतु इन गरीब देशों (भारत सहित) में बड़े-बड़े बाजार लगा दिए। 'मॉल संस्कृति' इन देशों में पैर पसार रही है। अट्टहास कर रही है। कुटीर-उद्योग अन्तिम साँसें ले रहे हैं। हर साँस पर पूँजीपति देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का पहरा है। हर साँस गिरवी है। टूट रही है अर्थव्यवस्था फिर अभाव के गाँव में।

विश्व-स्तर पर पूँजी, शक्ति और सत्ता के केन्द्रीयकरण ने आर्थिक नियोजन को अपना आधार बनाया। विश्व-स्तर पर उद्योगों का फैलाव हुआ। उद्योगों के लिए पूरे विश्व की धरती निवेश के लिए आकुल दिखाई देने लगी। यही नहीं, अपने-अपने क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने का आमन्त्रण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों/बड़े उद्योगों को दिया जाने लगा। पूरा विश्व खुला औद्योगिक परिसर बन गया। तकनीक और संसाधनों ने विश्व को छोटा-सा बना डाला। उद्योग एक देश का, वह अन्य देश में स्थापित हुआ। कच्चा माल और किसी देश से आया है। मजदूर सारे संसार से आकर उसमें काम करते हैं। उसके माल की खपत के लिए बाजार और किसी अन्य देश में लगता है। उत्पान-खपत-लाभ का एकसूत्रीय कार्यक्रम भूमण्डल पर ध्वनित हो रहा है। अर्थ की प्राप्ति, वस्तुओं का अधिकाधिक उपभोग, विलासपूर्ण जीवन और नैतिक मूल्यों में उपराम ही सुख की अवधारणा बन रहा है। अर्थ (धन) ही सुख है, यह धारणा व्यक्ति, समाज और राष्ट्रों में प्रबल हो रही है। एक ओर उच्च तकनीक का ज्ञाता और सुविधा-सम्पन्न वर्ग पनप रहा है। दूसरी ओर कम पढ़े-लिखे, अभावग्रस्त, साधनहीन लोगों का विशाल वर्ग बढ़ रहा है। इस वर्ग की विश्व की उद्योग कम्पनियों/बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में मजदूरों के रूप में बड़ी माँग है। आदमी भूमण्डलीकरण के खटकरम में वस्तु या संसाधन बनकर रह गया है। उसके पास अपने दुःख भरे गीत गाने का समय भी नहीं बचा है।

भूमण्डलीकरण ने अर्थ, मुद्रा, साहित्य, कला, संस्कृति, व्यापार, कार्य-प्रकृति, कार्यशैली, समाज-संरचना, जीवन-विधि, शिक्षा, धर्म आदि अनेक क्षेत्रों को गहरे प्रभावित किया है। सब कुछ बहुत तेजी से बदल रहा है। नैतिकता धराशायी हो रही है। आधुनिक बनने की अन्धी होड़ मची है। पश्चिमी संस्कृति विशेषकर अमेरिका की जीवन-शैली को आदर्श मान लिया गया है। अध्यात्म, धर्म, नीति, राष्ट्रीयता, दया, करुणा, प्रेम, दान, त्याग, सहिष्णुता, ममता, सम्बन्धों की जीवन्तता की बात करना, उन्हें अपनाना पिछड़ापन माना जाने लगा है। भोग, भोग और भोग की लिप्सा बढ़ रही है। उन्मुक्त और वर्जनाओं से मुक्त जीवन-शैली काँधे चढ़ रही है। संचार माध्यमों के नाना लुभावने दृश्यों और विकृत भावनाओं को जगाने वाले सन्देशों/संवादों ने व्यक्ति-जीवन में यौनाकांक्षाओं की फुरफुरी पैदा कर दी है। भोग के लिए धन चाहिए। शौक के लिए धन चाहिए। यौन-सन्तुष्टि के लिए धन चाहिए। उन्मुक्त-जीवन इन सबके लिए सुगम मार्ग प्रशस्त करता है। परिणाम में स्वजनों से विद्रोह, हत्या,

आत्महत्या, बलात्कार, भयप्रदर्शन, बेरोजगारी, अकर्मण्यता, अशान्ति, कुण्ठा के रोगाणु बुरी तरह फैल रहे हैं। जीवन के प्रति निष्ठा समाप्त हो रही है।

पहले साम्राज्य का विस्तार युद्ध द्वारा भौगोलिक सीमाओं का विस्तार कर किया जाता रहा है। भूमण्डलीकरण का आयुध अर्थ है। आर्थिक पूँजी है। यह नवसाम्राज्यवाद या आर्थिक-साम्राज्यवाद विश्व के प्रायः सभी देशों के सांस्कृतिक मूल्यों को झकझोर रहा है। वह बारीकी से सोचता हुआ निष्कर्ष दे रहा है कि, अब आर्थिक स्तर पर कोई भी राष्ट्र स्वयं को संप्रभु या स्वायत्त नहीं रख सकता। विश्व-मानव-समुदाय के हित में सभी राष्ट्रों को पास-पास आना होगा। अतः सीधा संकेत है कि सारा प्रयास पूरे विश्व में एक तरह का आर्थिक ढाँचा, एक तरह की विकास प्रक्रिया, एक तरह की संस्कृति, एक तरह की जीवन-शैली और एक तरह की कला-साहित्य की रचना-प्रक्रिया स्थापित करने का है। विश्व में जो सांस्कृतिक वैविध्य का सौन्दर्य है, उसे नष्ट किया जाकर एक तरह का नीरस सांस्कृतिक परिवेश पैदा करने का दुष्चक्र है। यह बहुत ही भयावह और खतरनाक पहल है। यह अशिव है। यह अग्नि के दूसरे मुख 'स्वधा' को सन्तुष्ट करने का यजन है। देह के सीमान्त टूट रहे हैं।

बातपेटी (मोबाइल), अन्तरजाल (इण्टरनेट), विश्वव्यापी तरंग (वर्ल्ड वाईड वेब), छविपुस्तिका (फेसबुक), मुद्रण-दर्शन-श्रवण यन्त्र (वाट्सऐप), संचार उपग्रहों (सेटेलाईट) ने संवाद और अर्थव्यवस्था को बुरी तरह कुनियोजित किया है। हर क्षेत्र में प्रबन्धन आ धमका है। प्रशिक्षण संस्थानों का जन्म कुकुरमुत्ता की तरह ही है। पारम्परिक संस्थान मर रहे हैं। परिवार टूट रहे हैं। कुटुम्ब-संस्था अपना अर्थ खोने लगी है। गाँव उजड़ रहे हैं। गाँव की सम्बन्धदृढ़ता, न्याय-व्यवस्था, सामंजस्य, सौजन्य, उदारता शिथिल हुई है। सम्पत्ति को लेकर पुत्र पिता की, भाई-भाई की हत्या कर रहा है। माता-पिता अपनी सन्तान से अलग हो रहे हैं। सन्तान अपने माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों से नाता-रिश्ता तोड़ रहा है। राष्ट्रीय भावना, संस्कृति-प्रेम, भाषानुराग, परिवार के प्रति समर्पण, जीवन-मूल्यों का रक्षण आदि सब पुराने युग की बातें हो चली हैं। दृष्टि अन्तरराष्ट्रीय बनने की है। कामना विदेश में बस जाने की है।

प्रत्येक राष्ट्र की कुछ परम्पराएँ हैं। अपनी संस्कृति है। उस संस्कृति के अपने प्रतीक हैं। विश्वास हैं। अभिप्राय हैं। मूल्य हैं। उनका अपना आलोक होता है, जिसकी उजास में राष्ट्र विशेष और समाज विशेष अपना मर्यादित और सहज जीवनपथ नापता चलता है। भूमण्डलीकरण के आर्थिक चिन्तन में परम्पराएँ और सांस्कृतिक मूल्य निरर्थक और अनुपयोगी माने जाने लगे हैं। गुन्नार मिर्डल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एशियन ड्रामा' में एक भ्रामक और असत्य प्रेरित निष्कर्ष दिया है—''परम्पराओं से जुड़े समाजों का आधुनिकीकरण तब तक नहीं होगा, जब तक वे आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार अपने सांस्कृतिक मूल्यों को नहीं बदल लेंगे।'' इस सन्देश ने नई पीढ़ी के दिमाग में खुराफात पैरा कर दी। अनेक समाजों के नवबौद्धिक जन अपनी संस्कृति,

अपनी जमीन, अपनी भाषा, अपनी जड़ों से कटने लगे हैं। स्वयं को आधुनिक बनाने, वैश्विक बनाने में सबकुछ बदला जा रहा है। खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, बोली-बानी, रंग-ढंग, पारख-परख, भाषा-साहित्य सब कुछ नया-नया किन्तु बेहूदा-सा है। परिवर्तन दौड़ में बदल गए गाँवों के चेहरे/बदल गई भाषाएँ/झीलें, पोखर, दरवाजे अब/नदियों की नौकाएँ। (डॉ. ओमप्रकाश सिंह) भूमण्डलीकरण के पाश में बँधे-बँधे हमारे मूल्य कराह रहे हैं।

भूमण्डलीकरण एक तरह से पराधीनता का नया कौशल लेकर आता है। इससे अनके राष्ट्र नवसाम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, नवसांस्कृतिकवाद और विश्वसंस्कृति के एकरूप फण्डा की चपेट में आते जा रहे हैं। यह विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों पर अधिनायकत्व स्थापित करने का आर्थिक लोहपाश है। डॅनियल बेल ने अपनी पुस्तक 'द कमिंग ऑफ पोस्ट इण्डस्ट्रीयल सोसायटी' (1974) में एक बात चक्कर में डाल देने वाली कही है—''संस्कृति में परिवर्तन ने परम्पराओं को व्यर्थ कर दिया।'' इससे स्पष्ट है कि नवसाम्राज्यवादी संस्कृति में अनेक मतों, पन्थों, विश्वासों, प्रथाओं, परम्पराओं, भाषाओं, जीवन-शैलियों के अन्त की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। समाचार-पत्रों के पृष्ठ तीन (Page tree) की चकाचौंध में सब अन्धे होते जा रहे हैं। सबसे खराब स्थिति यह हुई कि जीवन के प्रति निष्ठा समाप्त हो रही है। सृष्टि में अनिर्वचनीय सौन्दर्य को निहारने की दृष्टि धुँधली हो चली है। प्रत्येक आकृति अपने स्वार्थकूप में गिरकर अपनी एकांकी नियति के गीत गा रही है—'चुके-चुके लगते हैं/रिश्तों के झरने/मन पंछी व्याकुल हैं/अपने ही घर में/अभिलाषा मुरझाई/भाव हुए खाली। (आनन्द तिवारी) भीतर-ही-भीतर आर्त्तनाद घुमड़ रहा है।

संस्कृति का निर्माण हजारों वर्षों से चली आ रही मनुष्य के चिन्तन और आचरण ही प्रक्रिया से सम्भव हुआ है। भौगोलिक परिवेश, निसर्गजन्मी सुषमा या सम्पदा, जीवन-शैली, चिन्तन की सकारात्मक पीठिका तथा भाषा-संस्कृति की रचना में विधायक तत्त्व होते हैं। विविधता प्रकृति में है, इसलिए वह सुन्दर है। सुषमा-सम्पन्न है। भूमण्डलीकरण इस विविधता को समाप्त कर 'एक पृथ्वी एक संस्कृति' की पहल करता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। एकरूप संसार कैसा नीरस और आकर्षणहीन कुरूप होगा? कल्पना कर सकते हैं। संस्कृतियों का वैविध्य धरती के सौन्दर्य और मानव के कर्मों का सुन्दर फल है। सांस्कृतिक परिवेश के भीतर ही चिन्तन पुष्ट होता है और नया चिन्तन उस संस्कृति के आचरण से स्वयं को भरता है; विस्तार देता है। जनसंचार के आधुनिकतम माध्यमों ने तथा नवसांस्कृतिक साम्राज्यवादी शक्तियों ने सर्जन के नव-नव सोपान रचे हैं। विश्वसंस्कृति, बाजारवाद और उपभोक्ता-संस्कृति ने कविता की संवेदना-भूमि को बदला है। ज्ञानात्मक संवेदन के स्थान पर केवल ज्ञानात्मकता प्रखर हुई है। कविता संवेदना पैदा करने और सांस्कृतिक मूल्यों को नवयुग के अनुसार स्थापित करने में स्वयं को अक्षम पा रही है। कविता रचने के लिए/बची रहे जगह थोड़ी-सी/धरती पर हरी-कच्ची दूब के समान।' (डॉ. श्यामसुन्दर दुबे)

समाज संस्कृति की रचना करता है। संस्कृति साहित्य रचना की आधारभूमि है। आज जबकि संस्कृति का अन्त, साहित्य का अन्त, कला का अन्त, मूल्यों का अन्त, नैतिकता का अन्त, सम्बन्धों का अन्त, भाषाओं-बोलिओं अन्त आदि घोषणाएँ की जा रही हैं; इसी के साथ प्रकृति का अन्त, ईश्वर का अन्त और मनुष्य का अन्त के स्वर भी सुनाई पड़ रहे हैं। भारतवर्ष की संस्कृति में त्रिबिन्दु चिन्तन प्रमुख रहा है। मनुष्य है, क्योंकि निःसर्ग है। निःसर्ग है, क्योंकि ईश्वर है। मनुष्य, निःसर्ग और ईश्वर त्रिकोण-चिन्तन के तीन बिन्दु हैं। प्रकृति का शोषण, ईश्वरीय सत्ता की अस्वीकृति और आर्थिक नियोजन तथा उत्पादन में मनुष्य को सहयोग इकाई के रूप में देखने की धारणा ने मूल्यवान संस्कृति के चेहरे पर अनेक खरोचें उभारी हैं। संवेदनात्मक ज्ञान, साहित्य और संस्कृति की रचना और रक्षण का प्राण-तत्त्व है। अपसंस्कृति के बढ़ते अँधेरे में घर के आले में साहित्य-संस्कृति के रखे दीपक को जलाना ही होगा। नन्दनवन को सींचना होगा।

साहित्य का उद्देश्य लोकमंगल होता है। वह भूमण्डलीकरण के नकारात्मक परिणामों या पूँजीवादी साम्राज्यवाद की निन्दा करता है। भारतीय भाषाओं के साहित्य में इसके प्रमाण मिलने लगे हैं। एक ओर तो वह मनुष्य को बाजारू होने से सचेत करता है। दूसरे वह मनुष्य को वस्तु या उत्पादन उद्योग का पुर्जा नहीं बनने देना चाहता है। इसलिए जहाँ भूमण्डलीकरण की संस्कृति सबको एकरूप बनाकर घालमेल करना चाहती है, वहाँ साहित्य, भारतीय साहित्य, मनुष्य को अपनी वास्तविक और मूल पहचान के साथ विश्वमंच पर प्रस्तुत करता है। सारे आवरणों और प्रतिबन्धों, के बावजूद मनुष्य श्रेष्ठ है। सृष्टि और संसार के परिचालन में कीरी-कुंजर से लेकर बच्चों, स्त्रियों, दलितों, वनवासियों, कृषकों, मजदूरों, किन्नरों, दिव्यांगों तक की भूमिका रेखांकित हो रही है।

मनुष्य का सौन्दर्यबोध उतना ही विराट है, जितनी सृष्टि विराट है। उसने सारी सृष्टि को 'वासना वासुदेवस्य' का रूप समझा है। चर-अचर सभी में सौन्दर्य की उद्‌भावना और चैतन्य की अनुभूति होने के फलस्वरूप ही साहित्य, संगीत, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं का प्रतिफलन हुआ है। सौन्दर्य के प्रति ललक और कला में उसका रूपान्तरण मनुष्य की सर्जनात्मक प्रकृति का प्रमाण है। ये कलारूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साधन भी हैं। औद्योगिक क्रान्ति, सूचना क्रान्ति, तकनीकि क्रान्ति और जनसंचार माध्यमों के अनियन्त्रित प्रचार और व्यक्ति तथा समाज-जीवन में उसके हस्तक्षेप से साहित्य और संस्कृति की प्रकृति भी अंशतः प्रभावित हुई है। गाँवों की साधनहीनता, गाँवों की उपेक्षा, गाँवों का उजड़ना, नगरीकरण की सघनता और विस्तार तथा नए-नए उद्योगों की स्थापना ने सामाजिक जीवन को नए रूप में ढालना शुरू किया है। यह नया स्वरूप अपनी जड़ों से कटने का दुःख सहता हुआ आधुनिक उन्मुक्त जीवन जीने के आकर्षणों और आर्थिक

प्रयासों की संघर्ष-कथा कहता है। शिक्षा-प्रचार और तर्क-सम्मत जीवन-बोध ने उसे शंकालु, अनात्मवादी और स्वकेन्द्रित भी बनाया है। प्रकृति का अविवेकपूर्ण दोहन, शोषण और जल-थल-नभव्यापी प्रदूषण मनुष्य को अशुभ की ओर धकेल रहा है। मनुष्य की अनृत आकांक्षाओं के बीहड़ में एडम स्मिथ, हॉब्स, डार्विन, मार्क्स, फ्रायड का चिन्तन काम करता रहा है।

भूमण्डलीकरण द्वारा संचालित अपसंस्कृति ने अपने नाखूनों से सांस्कृतिक जड़ों को खोदना प्रारम्भ किया है। संस्कृतियों और साहित्यों का जो कुछ मौलिक तथा सुरक्षित था, वह छीना जाने लगा है। सांस्कृतिक संक्रमण और अधकचरेपन में जीने के लिए नई पीढ़ी विवश होती जा रही है। एक विक्षोभ घर में घुस आया है। प्रकृति पर शासन और उसके शोषण के अहम् ने दुष्परिणाम में वैश्विक पर्यावरण को बिगाड़ कर रख दिया है। कुण्ठा, भय, संत्रास, उपेक्षा, स्वार्थ, अर्थलिप्सा, भोगलिप्सा में मनुष्य अकेला होता चला जा रहा है। बिगड़ता पर्यावरण, ओजोन परत में छिद्र, वैश्विक तापीकरण, विध्वंसक आयुध, आतंकवाद, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, परमाणुशक्ति-परीक्षण, भ्रष्टाचार, भोगवाद, उन्मुक्तवाद के जीवाणु विश्वग्राम में निर्भय रेंगने लगे हैं। बड़े बाँधों का निर्माण, विस्थापन, कृषि-भूमि पर सीमेण्ट कांक्रीट के जंगल खड़े हो जाना, सड़कों के किनारों की सारी जमीनें धनबल और बाहुबल द्वारा कालेधन के धनी लोगों के पास चले जाना भूमण्डलीकरण के दुष्परिणाम हैं। इन विषयों का वर्णन साहित्य में हो रहा है—चर्चा है बस्ती से सटकर/राजमार्ग अब निकलेगा/वृक्ष कटेंगे और खेत पर/कोलतार अब पिघलेगा/क्या गुजरेगी गाँवों पर/मुन्नी की आदत है/झूले की। (वीरेन्द्र आस्तिक)

भूमण्डलीकरण के आँगन में स्थित मनुष्य प्रकृति, परिवेश, पर्यावरण तथा मानसभावों की सुखद-दुःखद कथा जिन साहित्य रूपों में हुई है—वे गीत, नवगीत, निबन्ध, ललित निबन्ध, कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, रिपोर्ताज, जीवनी यात्रावृत्तान्त, संस्मरण, रेखाचित्र, दैनन्दिनी लेखन, पत्र साहित्य, नाटक, लोकनाट्य और सिनेमा के साथ ही आधुनिक संचार-माध्यम, दूरदर्शन, बातपेटी (मोबाइल), छविपुस्तिका (फेसबुक), संक्षिप्त वार्तालेखन (ब्लाग), सन्देश (एमएमएम), अन्तरजाल (इण्टरनेट), मुद्रण-दर्शन-श्रवण-उपकरण (वाट्सएप) आदि हैं। उपकरणों के पिंजरे में मनुष्य कैद हो रहा है। स्मृतियों की जलधाराओं से वह किनारे हो रहा है।

गीत-नवगीत ने भारतीय जमीन पर खड़े होकर प्रकृति और मनुष्य को देखा तथा उसके सुख-दुःख को अभिव्यक्ति दी। भारतीय साहित्य का मूल स्वर काव्य ही रहा है। उसका काव्यरूप गीत रहा है। उसके विकास प्रतिमान में नवगीत का जन्म हुआ। नवगीत में आज के मनुष्य को सम्पूर्ण संसार उसकी परम्परा और आधुनिकता के समवेत सन्तुलन के साथ मुखरित हुआ है। अपनी परम्पराओं की आज के यान्त्रिक युग में सार्थकता तथा मिथकों की आज के सन्दर्भ में उपादेयता और व्याख्या लेकर

भारतीय ललित निबन्ध प्रस्फुटित और विकसित हुआ है। ललित निबन्ध आधुनिक मानव को शक्ति और जिजीविषा अपनी जमीन और अपनी संस्कृति से प्रदान करता है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य के त्रिआयामी समयखण्डों को अभाज्य अनुभव करता हुआ। अखण्ड समय में अखण्ड मनुष्य की स्थापना करना चाहता है। अपनी सनातन रीति-नीति और शिवत्व से परिपूर्ण सांस्कृतिकता में अपने समय के मनुष्य और प्रकृति को पुष्ट देखना चाहता है।

भारतीय साहित्य के विविध रूपों या विधाओं ने हिन्दी भाषा ने अपनी बहुत समृद्ध और दृढ़ शक्ति प्राप्त की है। आज हिन्दी विश्व के लगभग एक अरब से भी अधिक लोगों की सम्पर्क भाषा बन गई है। हिन्दी के पास विश्व-साहित्य के समक्ष अपने साहित्य को गर्व के साथ रखने का विश्वास है। सभी विधाओं के साहित्य में ज्ञान-विज्ञान, पर्यावरण-प्रकृति, संस्कृति-चिन्तन के नए-नए गवाक्ष खोले हैं। यान्त्रिक और वैज्ञानिक ज्योतिष-विज्ञान और खगोल-विज्ञान, परम्परागत विद्याओं और प्रौद्योगिकी की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान जा रहा है। इन विषयों का निबन्ध कविता, कहानी, उपन्यास, नाटकों के माध्यम से प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है। चौतरफा सर्जन अनुष्ठान चल रहा है।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही सृष्टिरथ के पहिए हैं। स्त्री और पुरुष की समानता एवं समन्वय तथा संग-साथ क्षितिजों तक जाने की अभिलाषा ही विश्वग्राम के झपट्टों का सामना करते हुए शिवत्व भाव का रक्षण कर सकती है। आज आवश्यकता है परम्परागत भारतीय शाश्वत मूल्यों पुनराख्यान की। जातीय अस्मिता की परख की। चेतना के यथार्थ और वैज्ञानिक परीक्षण की। मिथकों के वर्तमान सन्दर्भों को खोलने की। अपनी माँ, अपनी मातृभूमि और अपनी मातृभाषा सहित राष्ट्रभाषा को प्यार करने की। नमन करने की। तन्त्रलोक और अणु-परमाणु के बीच से मानव और मानवता को बचाने की। एक चिड़िया चोंच में दाना लिये घोसले की ओर उड़ चली है। वृक्ष उसके स्वागत में लहर-लहर रहा है। चिड़ियों के बच्चे घोसले के द्वार पर प्रतीक्षारत हैं। उनकी माँ आ रही है। चोंच में दाने के साथ ममता भी है।

इति शुभम्।

ग़ज़ल की जमीन हिन्द ने तैयार की है

डॉ. नित्यानन्द श्रीवास्तव*

अरबी, फारसी और उर्दू की भाषायी तथा साहित्यिक परम्परा के सम्यक् अधीत विद्वान जब लोक-प्रचलित काव्य-रूप 'ग़ज़ल' के मूलस्रोत पर बात करते हैं तो उनकी विचार-दृष्टि अधिक-से-अधिक 'कसीदा' पर आकर टिक जाती है। यह स्थापना इतनी दृढ़ और बद्धमूल मान ली गई है कि इन विद्वानों ने प्राक्-इस्लामी अरबी साहित्य के अनुसन्धान पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। जब उधर ध्यान नहीं गया, तब इस काव्य-रूप के भारतीय मूल स्रोतों पर विमर्श तो अकल्पीय ही था। हिन्दी में भी ग़ज़ल कहने-सुनने वाले लेखक-विद्वान इस गम्भीर विषय पर लगभग चुप से रहे हैं, लेकिन इधर हिन्दी-ग़ज़ल पर केन्द्रित पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में कम-से-कम हिन्दी-ग़ज़ल की अपनी स्वतन्त्र परम्परा के विषय में यह मौन टूटा है। कुछ आलोचक यह मानने लगे हैं कि 'ग़ज़ल' आयातित विधा नहीं है। मैनेजर पांडेय एक साक्षात्कार में कहते हैं, ''मैं ग़ज़ल को किसी भी तरह आयातित विधा नहीं मानता, बल्कि उसे संगम संस्कृति की देन कहता हूँ।... दाराशिकोह ने एक किताब फ़ारसी में पहले लिखी 'मज्म उल बेहरैन'। उसका उन्होंने संस्कृत में स्वयं अनुवाद किया और नाम रखा 'समुद्र संगम'। उस किताब का लक्ष्य या उद्देश्य यह है कि इस्लाम और हिन्दू धर्म-दर्शन दो समुद्रों की तरह हैं, जिनके बीच संगम होना चाहिए।... इसी से पैदा हुई है ग़ज़ल विधा।''[1] दाराशिकोह का नाम इस संगम-संस्कृति के अमर बलिदानी नायक के रूप में हमेशा याद किया जाता रहेगा और यह भी कि जायसी, रसखान, रहीम, ताज, सालबेग और मंसूर जैसे अनेक सहृदय साधकों ने आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा में हिन्दू और इस्लाम के राजसत्ता द्वारा प्रायोजित विभेदात्मक प्रपंचों की कोई परवाह नहीं की। मैनेजर पांडेय हिन्दी आलोचना के समकालीन व्यापार में सहृदय-पथ की अनुसन्धित्सु वृत्ति के समालोचक रहे हैं, इस कारण उन्होंने 'ग़ज़ल' के 'मूलस्रोत' के प्रश्न पर यह बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रवर्तक तथ्य उद्घाटित किया है।

* नित्यानन्द श्रीवास्तव, एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, दिग्विजयनाथ श्री जी कॉलेज, गोरखपुर। पत्राचार, सन्स-785, उत्तरी जटेपुर पो. यथारतपुर, गोरखपुर-273004

तात्पर्य यह कि ग़ज़ल और विशेषतः हिन्दी ग़ज़ल का अपना कोई भारतीय 'मूल स्रोत' हो सकता है और उस 'मूल स्रोत' का अवश्य ही स्वतन्त्र स्वभाव हो सकता है—यह बात अब दृढ़तापूर्वक रेखांकित की जाने लगी है।

इस 'समुद्र-संग्रम' का एक उदाहरण अमीर खुसरो से देखा जा सकता है। अमीर खुसरो (1253-1325 ई.स.) फारसी के जानकार विद्वान और उच्चकोटि के साहित्यकार थे। वे भारत-ईरान के प्राक्-इस्लामी साहित्य सम्बन्धों की विरल पूँजी के रूप में भी याद किए जा सकते हैं, जो नवसृजित पन्थ इस्लाम के भयावह आक्रमणों के बावजूद बची रह गई थी। पारसियों को, उनके धर्मग्रन्थ और उसकी भाषा के वैदिक भाषा से मेलजोल को हम यहाँ याद करते हुए अमीर खुसरो की एक प्रसिद्ध रचना को पुनः देखें—

ज़े हाले-मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराए नैना बनाए बतियाँ।
कि ताबे-हिजरां न दारम ऐ जाँ, न लीह्यो लगाए छतियाँ।।
शबाने-हिजरां दराज़ वो चूँ ज़ुल्फेरोजे-वस्लत चूँ उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।।
चूँ शम्अ सोज़ाँ चूँ ज़र्रा है राँ, ज़ेमेहरे-आँ मह बगशतम आखिर।
न नींद नैनाँ, न अंग चैनाँ, न आप आवैं, न भेजे पतियाँ।।

उपर्युक्त संगम में एक धारा फारसी भाषा की है, दूसरी 'हिन्दुई' की। काव्य-रूप ग़ज़ल का है। सिद्ध यह हुआ कि हिन्दुई भाषा में भी यह काव्य-रूप पहले से विद्यमान था, अमीर खुसरो के आते ही अचानक से प्रकट नहीं हुआ था। हिन्दुस्तान में इस पूर्व प्रचलित काव्य-रूप के साथ सामंजस्य दिखाने का काम अमीर खुसरो ने किया है। इस अर्थ में अमीर खुसरो 'हिन्दुई' अथवा हिन्दी के प्रथम ग़ज़लकार नहीं है। हिन्दुई यानी हिन्दुस्तान की भाषा में यह काव्य-रूप एक सुदीर्घ विकास परम्परा का परिणाम है।

वास्तव में हुआ यह है कि भाषा और साहित्य विशेषकर आध्यात्मिक साहित्य के मुद्दे पर एक पुराणपन्थी प्रपंच विश्व के प्रायः सभी उपासना-पन्थों या सम्प्रदायों में काम करता रहा है। अब भारत में ही वेदों को ईश्वरीय वाणी कहकर महिमामंडन और अकारणश्रेष्ठतावाद का जो प्रपंच चला है, उसे हम इस 'समुद्र-संगम' से समझ सकते हैं। रामविलास शर्मा ने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को उद्घृत करते हुए कहा है, जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों की रचना की, उन्होंने उसी समय वैदिक भाषा की रचना न कर डाली थी। वह भाषा एक सुदीर्घ विकास परम्परा का परिणाम है। इस सम्बन्ध में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी का तर्क विचारणीय है—"...जब वेदों की रचना हुई, उससे पहले ही भाषा का वैसा पूर्ण विकास हो चुका होगा, तभी तो वेद जैसे साहित्य को वह वहन कर सकी। भाषा के इस विकास में कितना समय लगा होगा। फिर, वेद जैसा उत्कृष्ट साहित्य तो देखिए।... क्या उस मूल भाषा या 'पहली प्राकृत' की पहली रचना ही वेद है? सम्भव नहीं। इससे पहले छोटा-मोटा और हल्का-भारी न जाने कितना

साहित्य बना होगा, तब वेदों का नम्बर आया होगा।...[2] आचार्यद्वय की यह क्रान्तिकारी स्थापना है और इसी क्रम में हम अनुभव कर सकते हैं कि पुराणपन्थी प्रपंच भारत में ग़ज़ल के पूर्वरूप के अध्ययन की ओर उन्मुख नहीं होने देता। अमीर खुसरो के नाम पर वह अपनी बुद्धि को पूर्णविराम दे देता है और यह भूल जाता है कि अमीर खुसरो का भारत के प्रति श्रद्धाभाव भी था, जिसे उन्होंने अपने समय की तमाम राजनीतिक और साम्प्रदायिक उठापटक के बीच भी व्यक्त किया है। वे यहाँ की भाषा के प्रति भी आत्मीयता व्यक्त करते हुए अपनी एक प्रसिद्ध फारसी कविता में कहते हैं–

चु मन तूतिए-हिन्दम, अर रास्तपुर्सी।
जे मन हिन्दुई पुर्स, ता नग़्ज़ गोयम ॥

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)[3]

उपर्युक्त विमर्श का अर्थ यह है कि ग़ज़ल फारस या अरब से आयातित या आया हुआ कोई पौधा नहीं है, जिसे भारतीय जमीन पर रोपा गया हो। पौधा भी हिन्द का है और जमीन भी हिन्द की है। फारसी आदि के साहित्य-प्रेमियों ने इसके रूप और शिल्प में थोड़ी-बहुत काट-छाँट की है, वह अलग बात है। लेकिन इस बात पर चर्चा करने से पहले आवश्यक यह है कि ग़ज़ल के भारतीय प्रारूपों की बात की जाए।

काव्य-रूप ग़ज़ल के सर्वाधिक वैज्ञानिक और प्राचीन उदाहरण वैदिक साहित्य से है। इन वैदिक काव्य-रूपों की वैज्ञानिकता छन्द, स्वर और संगीत के स्वरधर्मों की समवेत प्रस्तुति के रूप में है। कथ्य तो अपनी जगह पर महत्त्वपूर्ण है ही। वैदिक काव्य-रूपों की इस चतुर्विध वैज्ञानिकता का अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जाएगा, यहाँ मुख्य विषय परम्परा के अध्ययन से है। विद्वानों को अब इस तथ्य से संकोच न करना चाहिए कि वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है; तमाम पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक प्रमाण इसकी पुष्टि करते हैं। जिज्ञासुओं को फिर भी, एतद्विषयक अद्यतन अनुसन्धान देखने चाहिए। बहरहाल, ग़ज़ल कविता के इन आद्यरूपों के कुछ उदाहरण देखें–

1. हिरण्यगर्भ सूक्त–ऋग्वेद के दसवें मंडल का एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त। इसका छन्द त्रिष्टुप् है। इसमें कुल दस ऋचाएँ हैं। प्रथम नौ ऋचाएँ ग़ज़ल कविता का आद्य प्रारूप प्रस्तुत करती हैं। इन सबमें 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का सम-तुकान्त (रदीफ़-काफिया) पद प्रयोग विद्यमान है। यह सूक्त सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग की आध्यात्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। आधुनिक विज्ञान से इसकी अद्भुत समानता के प्रसंग में जिज्ञासुओं को फ्रिजॉफकाआ, हेसनवर्ग, नील्स बोर, आइंस्टीन, हेनरी स्टाप आदि वैज्ञानिकों के अध्ययनों को तथा एक भारतीय चिन्तक-वैज्ञानिक वासुदेव पोद्दार की कृति 'विश्व की कालयात्रा' को अपने विचार-पथ में लाना चाहिए। अब इन ऋचाओं को देखें–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाँ कस्मै देवाय हविषा विधेम।1।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।2।

× × ×

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।9।

2. शिवसंकल्प सूक्त—शुक्ल यजुर्वेद के 34वें अध्याय में संकलित। इसमें कुल छह ऋचाएँ हैं। इन छहों में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' का सम-तुकान्त पद प्रयोग विद्यमान है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।1।
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमनः प्रजान्तः तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।2।
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।6।

3. अभयप्राप्ति सूक्त—अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के इस पन्द्रहवें सूक्त में कुल तेरह मन्त्र हैं। यह सूक्त त्रिवृद्गायत्री छन्द में है। इस सूक्त की विशेषता यह है कि तेरहो मन्त्रों की प्रथम पंक्ति में 'च न बिभीतो न रिष्यतः' और द्वितीय पंक्ति में सम्पूर्णतः 'एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः' का सम-तुकान्त पद प्रयोग है।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राणं मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ।1।
यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ।2।

× × ×

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ।13।

4. दीर्घायुष्य सूक्त—यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का सूक्त है। यह दीर्घ आयु की कामना का सूक्त है। इसमें सम-तुकान्त पद प्रयोग कुछ नवता के साथ हैं। इसमें 'सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च' के सम-तुकान्त के साथ दूसरी पंक्ति में 'दीर्घमायुः कृणोतु मे' भी जुड़ता है। यह प्रयोग सभी नौ मन्त्रों में है।

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मापमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे । 1।

× × ×

सं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कृष्टयः।
सत्यं समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे । 9 ।

वैदिक साहित्य के इन आरम्भिक काव्य-रूपों में छन्दों की व्यवस्था का क्रम लौकिक छन्दों की मात्रा-गणना आदि से भिन्न है। यानी वर्णिक और मात्रिक छन्दों की पद्धति से भिन्न व्यवस्था इन छन्दों की है। इसी तरह फ़ारसी 'बहर' आदि की तुलना में भी कहीं अधिक वैज्ञानिक व्यवस्था वैदिक छन्दों की है। इस तथ्य का विशद विवेचन स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा करता है।

ये वैदिक ऋचाएँ कितने वर्ष पूर्व रची गई होंगी, इस पर आधुनिक विद्वान एकमत नहीं हैं। सरस्वती-सिन्धु घाटी सभ्यता को आधार मानें तो अद्यतन अनुसन्धान इसे आज से 8000 वर्ष पूर्व ले जाते हैं।[4] अतः कहा जा सकता है कि कम-से-कम आठ हजार वर्ष पूर्व वैदिक साहित्य प्रचलित रहा होगा।

वैदिक साहित्य के बाद ग़ज़ल कविता का एक और प्राचीन रूप महर्षि वाल्मीकि के रामायण में मिलता है। मधुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ अपने एक निबन्ध में अयोध्याकांड के 75वें सर्ग में प्रयुक्त इसके काव्य-रूप की पहचान करते हुए लिखते हैं, ''सर्ग की श्लोक संख्या 21 से लेकर 58 तक निरन्तर 38 श्लोकों में 'यस्यार्योऽनुमतेगतः' का प्रयोग करते हुए भरत ने स्वयं को जिस रूप में धिक्कारा है, वह सभी वैयक्तिक जीवन को श्रेष्ठता की ओर ले जानेवाले व्यवहारों, सिद्धान्तों और तत्त्वों को व्यंजित करता है।... प्रथमतः यह लम्बी सूची कवि द्वारा 38 श्लोतों में एक ही पाद 'यस्थार्योऽनुमते गतः' की आवृत्ति कवि के काव्य-कौशल के प्रति आश्वस्त करती है, अन्यथा कोई भी ग़ज़ल या काव्य-खंड इतने विस्तार में एक ही काव्य-खंड की आवृत्ति को साधने में सफल नहीं देखा गया है।[5]

'यस्यार्योऽनुमते गतः' का अर्थ है, जिसकी सलाह से आर्य (बड़े भाई) (वन में) भेजे गए'। इन श्लोकों में से कुछ उदाहरण रूप, शिल्प और अर्थ की दृष्टि से देखें।

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन।
सव्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ।21।

(जिसकी अनुमति से सत्पुरुषों में श्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, आर्य श्रीराम वन में गए हों, उस पापी की बुद्धि कभी गुरु से सीखे हुए शास्त्रों में बताए गए मार्ग का अनुसरण करनेवाली न हो।)

कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्।
अधर्मोयोऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमतेगतः । 23 ।

(जिसकी सम्मति से भैया श्रीराम ने वन को प्रस्थान किया हो, उसको वही पाप लगे, जो सेवक से भारी काम कराकर उसे समुचित वेतन न देने वाले स्वामी को लगता है।)

बलिषड्भाग समुद्धृत्य नृपस्यारक्षितु प्रजाः।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः । 25।

(जिसकी अनुमति से आर्य श्रीराम वन में गए हों, वह उसी अधर्म का भागी हो, जो प्रजा से उसकी आय का छठा भाग लेकर भी प्रजावर्ग की रक्षा न करनेवाले राजा को प्राप्त होता है।)

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमतेगतः । 56।

(पानी को गन्दा करनेवाले तथा दूसरों को विष देनेवाले मनुष्य को जो पाप लगता है, वह सारा पाप अकेला वही प्राप्त करे, जिसकी अनुमति से विवश होकर आर्य श्रीराम को वन में जाना पड़ा है।)

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमतेगतः । 58।

(जिसकी अनुमति से आर्य श्रीराम वन में गए हों, वह उस पाप का भागी हो, जो परस्पर झगड़ते हुए मनुष्यों में से किसी एक के प्रति पक्षपात रखकर मार्ग में खड़ा हो उनका झगड़ा देखनेवाले कलहप्रिय मनुष्य को प्राप्त होता है।)[6]

—वाल्मीकि रामायण/अयोध्याकांड/75 सर्ग

सवाल सिर्फ वैदिक साहित्य और रामायण के मध्य एक लम्बे समयान्तराल का ही नहीं बल्कि वैदिक छन्दों से अलग एक नए छन्द के आविष्कार का भी है। शोक से व्याकुल हृदय से निकली शापवाणी भी एक विशेष छन्द में निकली—

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा। —बालकांड 2/18

(तात! शोक से पीड़ित हुए मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है, वह चार चरणों में आबद्ध है। इसके प्रतयेक चरण में बराबर-बराबर (यानी आठ-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणा के लय पर भी गाया जा सकता है; अतः मेरा यह वचन श्लोक रूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्द में आबद्ध काव्य-रूप या यशः स्वरूप) होना चाहिए, अन्यथा नहीं।)[7]

महर्षि वाल्मीकि, जिन्हें आदिकवि भी कहा जाता है, उनका छन्द, लय और संगीत के समन्वित रूप का यह निर्देशन और इसमें काव्य-प्रणयन एक अद्भुत घटनाक्रम है। वेद से इतर प्रथम साहित्य और उसका छन्द-दोनों ही शोक से उद्भूत

हुए; शोक जो करुण रस का स्थायी भाव है और सम्भवतः साहित्य-मात्र के सृजन का प्रवर्तक बिन्दु भी। प्रेम भी करुणा का विस्तार है—ऐसा विस्तार जो वाद्ययन्त्रों की लय को भी अपने में समाहित कर लेता है। आर्तस्वर चाहे क्रौञ्च युग्म का हो या मानव के अन्तर्बाह्य संघर्ष का—वह महर्षि वाल्मीकि के इस छन्द-संयोजन में साध लिया गया है। इसी छन्द-संयोजन की एक कृति ग़ज़ल कविता का यह आद्य प्रारूप भी है।

वाल्मीकि रामायण के बाद ग़ज़ल कविता का एक प्राक्-रूप पालि भाषा की प्रसिद्ध कृति 'थेरी-गाथा' में मिलता है। 'थेरीगाथा' का परिचय देते हुए विमलकीर्ति (पालि और प्राकृत भाषा तथा बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान) लिखते हैं, ''पालि साहित्य में थेरीगाथा का अपना महत्त्व है। इस थेरी-गाथा में स्थविरी भिक्खुणियों के जीवनानुभव, जो उन्होंने स्वयं अपने बारे में व्यक्त किए हैं, संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ में 73 बौद्ध भिक्षुणियों के उद्‌गार समाहित हैं, जो काव्यमय अर्थात् गाथा में है। इसमें कुल 522 पालिगाथाएँ हैं। यहाँ की हर गाथा जीवन का एक निश्चित सन्देश देती है। थेरी-गाथा का पालि-त्रिपिटक साहित्य में बड़ा महत्त्व है। पालि-त्रिपिटक साहित्य को बुद्धवचन माना जाता है। थेरी-गाथा पालि-तिपिअक का एक ग्रन्थ है, इसलिए थेरी-गाथा को भी बुद्धवचन का स्थान प्राप्त है। ...भिक्खुणियों ने थेरी-गाथा में कहा है कि 'मैं बुद्ध कन्या हूँ, बुद्ध की पुत्री हूँ, उनके मुख से उत्पन्न हूँ, उनके हृदय से उत्पन्न हूँ। ...नारी-जीवन का बुद्ध ने जितना सम्मान किया और नारी-जीवन की जितनी प्रतिष्ठा बुद्ध ने बढ़ाई, उतनी शायद ही दुनिया के किसी धर्म संस्थापक ने बढ़ाई होगी।''[8]

'थेरीगाथा में थेरी अम्बपाली और थेरी रोहिनी की गाथाएँ ग़ज़ल कविता के प्रारूप में हैं। थेरी अम्बपाली वैशाली की इतिहास प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली हैं, जिनके जीवन पर कई लेखकों ने रोचक कथानक रचे हैं। इनमें आचार्य चतुरसेन के लिखे उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' ने तो विश्वस्तरीय प्रसिद्धि प्राप्त की। बुद्ध-वचनों ने आम्रपाली के विचार-चक्र को भी प्रवर्तित किया और ''वृद्धावस्था में अपने शरीर के परिवर्तनों को देखकर अम्बपाली ने बुद्धवचनों की सत्यता प्रतिफलित होते हुए देखी और उसे संसार की सभी वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान हुआ।''[9] आम्रपाली ने कुल 19 गाथाएँ कही हैं, जिनमें 'सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा' का समतुकान्त मिलता है। पालि अथवा प्रथम प्राकृत में रची गई यह गाथा संगीत-स्वर सिद्ध है। यह बात निश्चयपूर्वक रेखांकित की जा सकती है कि आम्रपाली स्वयं नृत्य और संगीत आदि कलाओं में निपुण थीं—स्त्री-वर्ग सामान्यतः लोक संगीत और लोक-गीत में निपुण होता ही है—अतएव यह बात विचारणीय है कि यह काव्य रूप उन दिनों भी यानी आज से लगभग ढाई हजार साल पहले लोक-प्रचलित रहा होगा। ढाई हजार साल पहले का समय भी रेखांकित किया जाना चाहिए; कारण यह कि आज हमारे अपने समय की तमाम उन्नत, विकसित और अपने-आपको वैज्ञानिक घोषित करनेवाली

सभ्यताएँ इतने दीर्घ समय के अपने इतिहास को नहीं जानती हैं और जानकारी के अभाव में इसे 'अन्धकार युग' के रूप में घोषित कर देती हैं।

ग़ज़ल का इतिहास लिखने-कहने वाले महानुभावों को इन गाथाओं का अनुशीलन करना चाहिए। इस्लाम के जन्म के बाद इस काव्य-रूप की उत्पत्ति में विश्वास करनेवाले विद्वानों को बड़े धैर्य और विशद मन से थेरी अम्बपाली की इन गाथाओं को निरखना चाहिए। इस गाथा से कुछ उदाहरण देखें–

कान्दका भमरवण्ण सादिसा, वेल्लितगगा ममसुद्धजा अहुँ।
ते जराय साणवाकसादिसा, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥252॥

काले भौंरे के रंग के समान जिनके अग्रभाग घुँघराले होते हैं, ऐसे ही किसी समय मेरे बाल थे, वही आज जरावस्था (वृद्धावस्था) में (जीर्ण) सन की छाल जैसे (श्वेत) हो गए हैं। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

वासितो व सुरभी करण्डको, पुप्फपूरो मम उत्तमङ्गजो।
तं जरायथ सलोमगन्धिकं, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥253॥

सुगन्धित पुष्पों से गुँथा हुआ मेरा केशपाश कभी सुगन्ध की पिटारी की भाँति महकता था, उसी में से आज जरा (वृद्धावस्था) के कारण खरहे के रोओं जैसी दुर्गन्ध आती है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

काननं व सहितं सुरोपितं कोच्छसूचिविचितग्गसोभितं।
तं जराय विरलं तहिं तहिं, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥254॥

कंघी और चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त जूड़ा कभी अच्छे रोपे हुए सघन उपवन के जैसा शोभा देता था। वही आज बुढ़ापे के कारण जहाँ-तहाँ से बाल टूटने के कारण विरल हो गया है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते ॥255॥

कण्हखन्धकसुवण्णमण्डितं, सोभते सुवेणीहिलङ्कतं।
तं जराय खलितं सिरं कतं, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥255॥

कभी मेरा सिर सोने (के गहनों) से सुसज्जित, भीनी-भीनी गन्धों से महकता हुआ सुन्दर चोटियों से अलंकृत रहा करता था। वही आज बुढ़ापे में बालों के झड़ जाने से स्खलित (गंजा) हो गया है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

चित्तकारसुकता व लेखिका, सोभरेसु भमुका पुरे मम।
ता जराय बलिभिप्पलम्बिता, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥256॥

चित्रकार के हाथ से कुशलतापूर्वक अंकित की हुई जैसी मेरी दोनों भौंहें थीं। वही आज बुढ़ापे में झुर्रियाँ पड़कर नीचे लटकी हुई हैं। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

भस्सरा सुरुचिरा यथा मणी, नेत्तहेसुमभिनीलमायता।
ते जरायभिहता न सोभरे, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥257॥

गहरे नीले रंग की दो उज्ज्वल, सुन्दर मणियों के समान कभी मेरी दोनों विस्तृत आँखें थीं। वही आज बुढ़ापे में मुरझाई हुई भद्दी और आभाहीन हो गई हैं। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कञ्चनस्स फलकं व सम्मट्ठं, सोभतेसु कायोपुरे मम।
सो वलीहि सुखुमाहि ओततो, सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥266॥

कभी मेरा शरीर सुन्दर, सुमार्जित, स्वर्णफलक के समान चमकता था। वही आज बुढ़ापे में सूक्ष्म झुर्रियों से भरा हुआ है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

एदिसो अहु अयं समुस्सयो जज्जरो बहुदुक्खान मालयो।
सोपलेपपतितो जराघरो सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा ॥270॥

एक समय मेरा यह शरीर ऐसा था, इस समय यह जर्जर और अनेक दुःखों का आलय (निवास) है। यह एक ऐसे जीर्ण घर के समान है, जिसकी लीपन टूट-टूटकर नीचे गिर गई है। बिना लेपादि के यह जरा का घर शरीर शीघ्र ही इस प्रकार गिर जाएगा, जैसे टूटी हुई लीपन वाला जीर्ण घर। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

काव्य-रूप के सन्दर्भ में 'रोहिनी थेरी-गाथा' के कुछ अंश महत्त्वपूर्ण हैं। रोहिणी का वैशाली गणराज्य के एक वैभव-सम्पन्न ब्राह्मण कुल में जन्म हुआ था। तत्कालीन समाज में पसरे हुए कर्मकांड और पुरोहितपन्थी प्रपंच के प्रति वितृष्णा का भाव उसके मन में भी था, इसलिए भगवान बुद्ध के उपदेशों और संघ के साधकों के लिए उसके मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। श्रमणों के प्रति उसके श्रद्धाभाव को देख उसके पिता ने उससे कई प्रश्न किए। ये प्रश्न और रोहिणी के उत्तरों में एक गहरी संवादधर्मिता है। पिता-पुत्री के मध्य हुए ये संवाद 'धर्म' के तत्त्वों का सहज उद्घाटन काव्यमय भाषा और स्वरूप में करते हैं। बाद में रोहिणी और उसके पिता दोनों बुद्ध के उपदेशों से प्रवर्जित हुए। रोहिणी ने स्वयं इन संवादों को निबद्ध किया है, जो रूप की दृष्टि से ग़ज़ल-कविता का प्राक्-रूप प्रस्तुत करते हैं—

विपुलं अन्नञ्च पानञ्च, समगानं पवेच्चसि।
रोहिनी दानि मुच्छामि, केन ते समणा पिया ॥272॥

श्रमणों को तू बहुत अन्नपानादि दान करती रहती है। रोहिणी! मैं तुझसे पूछता हूँ कि श्रमण-जन तुझे इतने प्रिय क्यों हैं?

अकम्मकामा अलसा, परदत्तूपजीविनो।
आससुका सादुकामा, केन ते समणा पिया ॥273॥

देख! ये भिक्खु कर्म (श्रम) नहीं करते, आलसी है। दूसरों के दिए अन्न पर जीने वाले हैं। दूसरों की आस करनेवाले हैं। स्वादिष्ट भोजन के लालची हैं। फिर भी ये श्रमण तुझे क्यों प्रिय हैं?

कम्मकामा अनलसा, कम्मसेट्ठस्स कारका।
रागं दोसं पजहन्ति तेन मे समणा पिया ॥275॥

ये बहुत कर्म करनेवाले हैं, अप्रमादी हैं, श्रेष्ठ कर्म को करनेवाले हैं, अपने राग-द्वेष को दूर हटाते हैं। इसलिए श्रमण-जन मुझे प्रिय हैं।

तीणि पापस्स मूलानि, धुनन्ति सुचिकारिनो।
सब्बं पापं पहीनेसं, तेन मे समणा पिया ॥276॥

श्रमण-जन पाप के तीनों मूलों (राग, द्वेष, मोह) को धुनते हैं, हिलाते हैं, नष्ट करते हैं। वे पवित्र कर्म करनेवाले हैं। उनके सब पाप नष्ट हो गए हैं। इसलिए श्रमण-जन मुझे प्रिय हैं।

बहुस्सुता धम्मधरा, अरिया धम्मजीविनो।
एकग्गचित्ता सतिमन्तो, तेन मे समणा पिया ॥280॥

वे बहुश्रुत हैं, धर्म को जानने वाले हैं, आर्य हैं। धर्माभ्यास ही उनकी उपजीविका है। वे एकाग्रचित्त और स्मृतिमान् (सावधान) हैं। इसलिए श्रमण जन मुझे प्रिय हैं।

नानाकुला पब्बजिता, नानाजनपदेहि च।
अञ्ञमञ्ञं पियायन्ति, तेन मे समणा पिया ॥285॥

नाना कुलों, नाना जनपदों से आकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर भी वे एक-दूसरे के साथ प्रेम से रहते हैं। इसलिए श्रमण-जन मुझे प्रिय हैं।

वैदिक सूक्तों की तरह थेरीगाथाओं में भी काव्य-रूप की विशेषता इस बात में है कि दोनों में वाक्य-खंडों की आवृत्ति ही हो रही है। वाक्य-खंडों की आवृत्ति की यह परम्परा संस्कृत के स्तोत्र काव्यों में और संस्कृत भक्तिगीतों में यथावत मिलती है। उदाहरणार्थ शंकराचार्य कृत शिवाष्टक, शिवपंचाक्षर स्तोत्र, मीनाक्षी पंचरत्नम्, भवान्यष्टकम्, कौपीन-पंचक स्तोत्रम् और निर्वाणषटक्; पृथ्वी पति सूरिकृत पशुपत्यष्टकम्; ब्रह्मानन्द स्वामी कृत श्रीकमलापत्यष्टकम् और श्रीदीनबन्धष्टकम्; बिल्वमंगल कृत गोविन्द दामोदर स्तोत्रम्; स्वामी रामानन्दकृत श्री शिवरामाष्टक स्तोत्रम् तथा वल्लभाचार्यकृत कृष्णाश्रयस्तोत्रम् को देखा जा सकता है। संस्कृत के विपुल स्तोत्र-गीत साहित्य को देखते हुए ये उदाहरण बहुत कम हैं; ये और भी हैं किन्तु स्थालीपुलाक न्याय के अनुसार शोधकों के लिए कम नहीं हैं। इनमें से कुछ उदाहरणों को देखा जाए–

आदि शंकराचार्य को देश-विदेश के विद्वान अपूर्व मेधा-सम्पन्न दार्शनिक संन्यासी मानते रहे हैं। यह उनके व्यक्तित्व का एक पक्ष है। उनके व्यक्तित्व का दूसरा

पक्ष करुणासिक्त भावुक भक्त का भी है। इसके प्रमाण उनके द्वारा रचे गए स्तोत्र एवं अन्य गीतों में हैं। नाक की सीध में देखनेवाले आलोचक विद्वानों को अद्वैत मार्ग के प्रवर्तक और अपने युग के सम्भवतः सबसे अधिक बुद्धिमान संन्यासी का यह 'भक्त' रूप दुविधा में डाल सकता है। लेकिन यहाँ यह याद रखना चाहिए कि करुणासिक्त और भावुक हृदय के बिना 'संन्यासी' नहीं हुआ जा सकता। उपदेशक और महन्त इस कोटि में नहीं आते। उनका वर्ग अलग है।

शंकराचार्य के काल निर्णय के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। पश्चिमी देशों के विद्वान उन्हें सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी सन् को मानते हैं तो मठ-परम्परा और भारतीय इतिहास के नए अनुसन्धान उन्हें गौतम बुद्ध के आस-पास का मानते हैं। यह एक अलग शोध का विषय है; यहाँ हम उनकी एक रचना 'कौपीन पंचकं स्तोत्रम्' के काव्य-रूप को विशिष्ट छन्द-विधान से समझें। इस स्तोत्र को 'यतिपंचकं' भी कहा जाता है। इसमें संन्यासियों के स्वभाव का चित्रण है।

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकवन्तः करुणैकवन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ।1।

सदैव उपनिषद्-वाक्यों में रमते हुए, भिक्षा के अन्नमात्र में ही सन्तोष रखते हुए, शोकरहित तथा दयावान् कौपीन धारण करनेवाले ही भाग्यवान् हैं।

मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः पाणिद्वये भोक्तुममत्रयन्तः।
कन्धामपि स्त्रीमिव कुत्सयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥2॥

केवल वृक्षतलों में रहनेवाले, दोनों हाथों को ही भोजन पात्र बनानेवाले, गुदड़ी को भी स्त्री की भाँति, त्याग बुद्धि से देखनेवाले कौपीनधारी भाग्यवान् हैं।

देहाभिमानं परिहृत्य दूरादात्मानमात्मन्यवलोकयन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥3॥

देहाभिमान को दूर से ही छोड़कर, अपनी आत्मा को अपने में ही देखते हुए रात-दिन ब्रह्म में रमण करनेवाले कौपीनधारी भाग्यवान हैं।

स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः स्वशान्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥4॥

स्वानन्दभाव में ही सन्तुष्ट रहनेवाले, अपने भीतर ही सभी इन्द्रियों की वृत्तियाँ शान्त कर लेनेवाले, अन्त, मध्य और बाहर की स्मृतियों से शून्य रहनेवाले कौपीनधारी ही भाग्यवान हैं।

पंचाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः।
भिक्षाशना दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलुं भाग्यवन्तः ॥5॥

पवित्र पंचाक्षर मन्त्र (नमः शिवाय) का जप करते हुए, हृदय में परमेश्वर की भावना करते तथा भिक्षा का भोजन करते हुए सब दिशाओं में विचरनेवाले कौपीनधारी ही भाग्यवान् हैं।[10]

आदि शंकराचार्य की इस संस्कृत कविता का छन्द और रूप देखें। फ़ारसी-उर्दू ग़ज़ल में जिसे हुस्न-ए-मतला कहा जाता है, उसका प्राक्-रूप यहाँ विद्यमान है। प्राचीन आर्यावर्त का विस्तार आज के मध्य पूर्व एशियाई देशों तक था ही; बल्कि यों कहा जाए कि आज के ईरान आदि देश प्राचीन आर्यावर्त का ही अंग थे—तब इस काव्य-रूप ग़ज़ल के भारतीय प्राक्-रूपों की स्थिति समझी जा सकती है।

संस्कृत के स्तोत्र काव्यों की एक विशद परम्परा है। काव्य रूप की दृष्टि से इनका स्वतन्त्र अध्ययन किया जाना चाहिए। यहाँ विस्तार की स्थिति देखते हुए उपर्युक्त उदाहरणों में भी सबको उद्धृत करना उचित नहीं है।

संस्कृत के स्तोत्र काव्य प्रायः अपने आराध्य देवी-देवताओं की प्रार्थना और उनकी प्रशंसा से सम्बन्धित हैं। एक प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है कि इन स्तवनों में व्यक्ति के क्लेश, उसकी व्यथा, सांसारिक कहे जानेवाले दुःख-ताप आदि के स्वर भी हैं या नहीं। स्तोत्रों में प्रशंसा के साथ-साथ अपनी वेदना का पुट तो मिला ही होता है, इस दृष्टिकोण से बल्लभाचार्य के लिखे 'कृष्णाश्रय स्तोत्रम्' की चर्चा की जा सकती है। इसका रचनाकाल 1570 वि. से यानी 1513 ईसवी सन् है। इस कृति में समकालीन जीवन की अन्तर्वाह्य व्यथा का जैसा चित्रण है, वह अद्भुत है। भारत का उत्तरापथ उन दिनों जिस प्रकार के संकट से जूझ रहा था, उसका स्पष्ट वर्णन इस कृति में है। इसके प्रारम्भिक नौ श्लोकों में 'कृष्ण एवं गतिर्मम' का समतुकान्त वाक्य-खंड प्रयुक्त हुआ है। रूप-रचना और समकालीन चेतना की अन्तर्यात्रा के भावाकुल प्रसंगों की उद्भावना के अर्थ में संस्कृत के विपुलवाङ्मय में यह लघुकाय कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस दृष्टिकोण से इसे देखें—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खल (खर) धर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एवं गतिर्मम ॥1॥

कालिदास के खल (दुष्ट) धर्मयुक्त होने पर, लोक के विशेषकर पाखंडी होने पर तथा सर्व मार्गों के नष्ट होने के कारण कृष्ण ही मेरी गति (आश्रय) हों।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥2॥

देश म्लेच्छों के अधीन है, पुण्य स्थान पाप-रूप म्लेच्छों के मुख्य स्थान बने हैं, स्वधर्माचरण करनेवालों पर जो आफतें आती हैं उनको देखकर सभी किंकर्तव्यविमूढ़ बन गए हैं, अतः कृष्ण ही मेरी गति हों।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधि दैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥3॥

गंगा आदि मुख्य तीर्थ दुर्जनों से ही आवृत्त हैं। तीर्थों में पवित्र करनेवाला जो आधिदैविक स्वरूप है, वह तिरोहित हो गया है। अतः श्रीकृष्ण का आश्रय ही रक्षणीय है।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥4॥

अहंकार के वशीभूत पंडितगण—हम ही शास्त्रज्ञ हैं अन्य कोई नहीं—इत्यादि प्रकार के मिथ्याभिमान से विमूढ़ हो गए हैं। ...इसका कारण यह है कि वे लोग द्रव्यादि का लाभ और पूजा के लिए ही यत्न करनेवाले होते हैं। इस तरह भगवदाश्रय के बिना पण्डित भी कुछ सिद्ध नहीं कर सकते। अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय हों।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिमर्मम ॥5॥

वेदोक्त तथा नारद पंचरात्रादि आगमोक्त मन्त्र, तात्पर्य, फल तथा देवता के स्वरूपज्ञान के अभाव से नष्ट हो गए हैं। अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय हों।[11]

'कृष्णाश्रय' भक्ति आन्दोलन के समय की रचना है। भक्ति आन्दोलन का प्रवर्तन करनेवाले आचार्यों में इस कृति के रचनाकार वल्लभ का नाम प्रमुख और महत्त्वपूर्ण है। बल्लभाचार्य इसमें काव्य-रूप को वैदिक, संस्कृत एवं लौकिक (प्राकृत, अपभ्रंशादि) परम्परा से प्राप्त करते हैं और संवेदना को अपने 'समकाल' से। इस रचना में 'म्लेच्छ' शब्द आधुनिक विद्वानों के लिए खेदकारी और विखंडनकारी हो सकता है। सोच-विचार की समाचारी या अखबारी शैलीवाली मनोवृत्ति इसे इस्लाम मतानुयायियों से जोड़कर देख सकती है। ऐसी शैली वाले चिन्तकों से कहा जाना चाहिए कि 'म्लेच्छ' शब्द का अर्थ यहाँ भारतीय महाद्वीप में रहनेवाले मतान्तरित मुसलमानों से नहीं है। इसका अर्थ आक्रमणकारी समूहों (अब के आतंकवादियों) और प्रवृत्तिगत विचलनों से है। ये स्वभावगत विचलन सामान्य मनुष्यों से लेकर कर्मकाण्डी आचार्यों तक में देखे जा रहे हैं—यह बल्लभाचार्य की पीड़ा है। स्वार्थान्ध मनोव्यापार सर्वत्र व्याप्त हो गए हैं, कलुषित आचरण प्रतिष्ठित हो रहा है; दुर्जन तीर्थों में भी पसर गए हैं; सज्जन, सन्त और सद्गृहस्थ पीड़ित हैं—यह भक्तिकाल का 'समकाल' है। भक्ति काल के अन्य आचार्यों की तरह बल्लभाचार्य भी सामान्य जन को क्लेश से निवारण के लिए परम्परा के अनुशीलन से जोड़ते हैं। कृष्ण से जुड़ना किसी आध्यात्मिक चमत्कारवाद से जुड़ना नहीं है—परम्परा की सम्पूर्ण कर्मशीलता से जुड़ना है। और, सिर्फ जुड़ना ही नहीं, बल्कि उसमें अन्तर्लीन हो जाना है। कहा जा सकता है कि कृष्णाश्रय भक्ति ग्रन्थ होने के साथ-साथ अपनी अन्तर्वस्तु में समकालीन यथार्थ

की अभिव्यक्ति करता है; एक विशिष्ट छन्द-विधान के साथ, जिसे ग़ज़ल का भारतीय प्रारूप कहा जाना चाहिए।

निष्कर्षतः यह तथ्य अन्वेषित किया जा सकता है कि 'ग़ज़ल' का आद्य-प्रारूप भारत में मिलता है। यहाँ की कई बोलियों, भाषाओं में एक समान प्रवृत्ति के छन्द-विधान इस प्रारूप में हैं। इन प्रारूपों की विशिष्टता यह है कि इनमें वाक्य-खंडों की आवृत्ति होती है। जबकि, फारसी आदि में प्रायः समान ध्वनि वाले सम-तुकान्त पदों की आवृत्ति होती रहती है। इसे ही वे रदीफ-काफिया कहते हैं। भारतीय प्रारूप जिसमें एक वाक्य-खंड की आवृत्ति होती है, अपेक्षाकृत अधिक कठिन कवि-कर्म है। फारसी आदि में रूप की दृष्टि से सरलीकरण हुआ है। सरलीकरण की इस द्वन्द्वात्मकता का अध्ययन भाषायी, सांस्कृतिक, भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करना आवश्यक है।

सन्दर्भ :

1. अलाव : संयुक्तांक मई-अगस्त, 2015 : सम्पादक रामकुमार कृषक : 'समकालीन हिन्दी ग़ज़ल आलोचना के केन्द्रित विशेषांक' : पृ. सं. 132
2. राम विलास शर्मा : भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी-पहला खंड : राजकमल प्रकाशन : 2008 संस्करण : पृ. सं. 147
3. एहतेशाम हुसैन : उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : लोकभारती प्रकाशन : संस्करण 2002 : पृ. सं. 14
4. ''Scientists from III-Kharagpur and the Archaeological Survey of India have uncovered evidence that the Indus-Valley Civilisation is at least 2,500 years older than believed and a pre-Harappan civilisation existed for at least 1,000 years before it. The discovery published in the 'Nature' Journal on May 25, may force a global rethink on the timelines of the so-called 'cradles of civilisation', ''Times of India, May 30, 2016, page 1.
5. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ : तुलसी सौरभ अप्रैल-मई, 2016; सं. रामलक्ष्मण गुप्त जयपुर : पृ. संख्या 37-38.
6. वाल्मीकि रामायण : गीताप्रेस : संस्करण संवत् 2045
7. वही, पृ. संख्या 31-32
8. विमलकीर्ति : सम्पादक थेरीगाथा : सम्यक् प्रकाशन : चतुर्थ संस्करण 2001 ई., पृ. सं. 17-19
9. वही; पृ. संख्या 209
10. स्तोत्र रत्नावली : गीता प्रेस : पृ. सं. 260 : संस्करण संवत् 2057
11. कृष्णाश्रय स्तोत्रम् : श्रीजीवनेशाचार्यपुष्टिसिद्धान्त कार्यालय : सन् 1927 (इंटरनेट पर उपलब्ध)

सरहपा की कविताओं में लोकधर्मी प्रतिरोध की चेतना

दिवाकर दिव्य दिव्यांशु*

लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के बीच विभाजक रेखा खींचने में हमेशा एक दुविधा की स्थिति बन जाती है। हम किसे लोक-साहित्य कहें और किसे शिष्ट-साहित्य कहें, यह हमेशा चुनौतीपूर्ण विषय रहा है। शिष्ट-साहित्य कहने मात्र से एक बिंब उभरता है कि यह पढ़े-लिखे लोगों का साहित्य होता है और लोक-साहित्य कहते ही हमारे सामने गाँव या कस्बे का बिम्ब उभरकर सामने आता है और इसे हम मान लेते हैं कि यह निरक्षर और मूर्ख लोगों का साहित्य होता है। जबकि ऐसा कुछ भी नहीं है। लोक के अन्तर्गत शिक्षित और अशिक्षित दोनों आते हैं। अतः शिष्ट-साहित्य केवल पढ़े-लिखे लोगों का साहित्य और लोक-साहित्य केवल अशिक्षितों का साहित्य होता है, यह भ्रांत धारणा है। जिसे शिष्ट-साहित्य कहा जाता है, उसे भी सामान्य जनता के लिए ही लिखा जाता है। यह अलग बात है कि उसकी भाषा लोक में प्रचलित भाषा से अलग होती है। इनमें जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह भाषा को लेकर है। शिष्ट-साहित्य में मानक भाषा होती है, जो व्याकरणों के नियमों से संचालित होती है, जबकि लोक की भाषा सामान्य जन की बोली जाने वाली भाषा होती है और उनके हिसाब से बदलती बनती रहती है। शिष्ट-साहित्य का रूप और अन्तर्वस्तु शिक्षित जनता की मनोवृत्तियों के आधार पर बनते बदलते हैं। इसका उल्लेख शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में किया है। उन्होंने लिखा है कि, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के

दिवाकर दिव्य दिव्यांशु : शोध-छात्र–पी-एच.डी. (हिन्दी), हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, तेलंगाना-500046; मो. : 9441376548

बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।"[1] शुक्ल जी ने यह बात साहित्य के इतिहास के कालविभाजन के सन्दर्भ में कही थी, जिसका काफी विरोध हुआ था। उन पर यह आरोप लगा था कि उन्होंने लोक की उपेक्षा की है। मुझे ऐसा लगता है कि शुक्ल जी ने गलत नहीं कहा था। जैसे-जैसे शिक्षित लोगों की चित्तवृत्तियों में परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे साहित्य के स्वरूप में भी बदलाव आता है। यदि ऐसा नहीं होता और लोक को भी उसमें सम्मिलित किया जाता तो शिष्ट-साहित्य लोक से इतना दूर नहीं होता। क्या कारण है कि शुक्ल जी का विरोध करनेवाले लोगों का साहित्य भी जन-सामान्य में प्रचलित नहीं हो सका? यदि उन्होंने लोक को ध्यान में रखकर लेखन किया है तो लोक को उसमें उनकी रोजमर्रा की आशाओं और आकांक्षाओं का चित्रण क्यों नहीं दिखाई पड़ता? लोक की साधारण जनता उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखने में असमर्थ क्यों हो जाती है?

दरअसल, लोक का साहित्य और साहित्य का लोक अलग-अलग होता है। उदाहरण के तौर पर भक्तिकाल के सभी कवियों की कविताओं को देखा जा सकता है। उनके यहाँ लोक का साहित्य नहीं है, बल्कि साहित्य का लोक है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे लोक का निर्माण किया था, जिसमें साधारण-से-साधारण मनुष्य को भी अपने रोजमर्रा की कहानी दिखाई पड़ती थी। यही कारण है कि वे शिक्षित जनता के कवि होते हुए भी लोक के कवि बन गए और लोगों ने उनकी कविता को अपने जीवन का अंग बना लिया। कबीर और तुलसी इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। दूसरी ओर देखें तो विद्यापति की कविताएँ शादी-विवाह और अन्य अवसरों पर मिथिला के घर-घर में गाई जाती हैं। ये शिष्ट-साहित्य के कवि होते हुए भी लोक के कवि बन गए। सरहपा भी ऐसे ही कवि थे और उनकी कविताएँ भी ऐसे ही लोक का निर्माण करती हैं। उनकी कविताओं में भी लोगों को अपनी आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती थी।

सरहपा हिन्दी के पहले कवि और चौरासी सिद्धों के आदि सिद्ध हैं। संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान होते हुए भी उन्होंने लोक में प्रयुक्त भाषा को अपनी कविताओं का आधार बनाया था। इनका कर्मक्षेत्र बिहार का नालन्दा प्रदेश था, जहाँ की भाषा मगही है। उन्होंने मगही भाषा में ही कविताएँ की थीं। भक्तिकाल के कवियों ने जिस प्रकार के लोक का निर्माण किया था, उसका आधार सरहपा की कविताएँ थीं।

किसी भी देश का लोक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था के बीच दो रूपों में काम करता है। एक तो प्रतिरोधी चेतना के रूप में और दूसरा यथास्थिति के समर्थन के रूप में। इन दोनों प्रक्रियाओं में जो मानसिक अवस्था काम करती है, उसे ही चेतना के रूप में जाना जाता है। अतः किसी भी देश की लोक-चेतना की पड़ताल करनी हो तो हमें उस देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना होगा। बिना इसे समझे साहित्य का लोक और लोक का साहित्य नहीं समझा जा सकता। ठीक उसी प्रकार

सरहपा की कविताओं के लोकधर्मी प्रतिरोध की चेतना को समझने के लिए भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रतिरोध की परम्परा को समझना होगा। इस प्रक्रिया में हमें बुद्ध के पास जाना होगा, जहाँ से प्रतिरोध की परम्परा की शुरुआत होती है। यह परम्परा अश्वघोष और सरहपा से होते हुए भक्तिकाल के कबीर और अन्य कवियों के यहाँ दिखाई पड़ती है। प्रतिरोध की यह परम्परा भारतीय समाज में व्याप्त वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति-पाँति, छुआछूत, ऊँच-नीच और धार्मिक पाखंड पर चोट करने की थी। बुद्ध ने यह काम सबसे पहले किया था और ऐसा समाज बनाना चाहा था, जहाँ उपर्युक्त भावनाओं का कोई स्थान न हो। उन्होंने तत्कालीन वैदिक और सनातनी व्यवस्था में फैली अनेक बुराइयों और कुरीतियों का खंडन किया था। लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दिया था। यही काम उनके बाद अश्वघोष और फिर सरहपा करते नजर आते हैं और यही मध्यकाल में कबीर के यहाँ दिखाई पड़ता है। बुद्ध और कबीर ने साधारण जनता में आत्मगौरव का भाव जगाने का प्रयास किया था। उनके इस योगदान को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समझा था। उन्होंने अपने मशहूर निबन्ध 'भारतवर्ष में इतिहास की धारा' में इसका जिक्र करते हुए बुद्ध और कबीर दोनों के योगदान को विशेष रूप से रेखांकित किया है। कबीर पर उन्होंने लिखा है कि, "कबीर की जीवनी और रचनाओं में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उन्होंने भारत की समस्त बाह्य आवर्जना का अतिक्रमण करते हुए उसके अन्तःकरण की श्रेष्ठ सामग्री को ही सत्य-साधना समझकर उपलब्ध किया था।... लोकाचार, शास्त्रविधि और अभ्यास के रुद्ध द्वार पर आघात करके उन्होंने भारत को जगाने का प्रयत्न किया था।"[2]

सरहपा ने यह काम कबीर से पाँच-छह सौ वर्ष पहले ही कर दिया था। किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी कविताओं की जानकारी हमें बहुत कम मिलती है। उनकी रचनाएँ इस देश से गायब हो गईं या कर दी गईं—यह शोध का विषय है। अश्वघोष की रचनाओं के साथ भी यही हुआ था। उनकी रचनाओं के कुछ अंश गोबी के मरुस्थल से प्राप्त हुए हैं, जिसका जिक्र मैनेजर पांडेय जी ने 'क्या आपने वज्रसूची का नाम सुना है' नामक लेख में किया है। उसी तरह सरहपा की रचनाएँ तिब्बत में प्राप्त होती हैं, जिसका जिक्र राहुल जी ने 'दोहाकोश' में किया है। राहुल जी ने ही हिन्दी साहित्य को सरहपा से परिचय कराते हुए कहा था कि सरहपा हिन्दी के पहले कवि हैं।

हिन्दी साहित्य का सबसे व्यवस्थित और प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ लिखने का श्रेय आचार्य शुक्ल को प्राप्त है। यह हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रस्थान बिन्दु भी है। इस ग्रन्थ में शुक्ल जी ने सरहपा पर शास्त्रज्ञ विद्वानों का अपमान करने तथा उनकी रचनाओं पर धार्मिक उपदेश का आरोप लगाकर उन्हें खारिज कर दिया है। यही काम उन्होंने कबीर पर लिखते हुए किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कबीर को ठीक से नहीं समझ पाए। इस बात की चर्चा प्रायः होती है। मुझे ऐसा लगता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अगर कबीर को समझ

पाए तो इसका कारण यह था कि वे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से बुद्ध और कबीर के बीच प्रतिरोध की परम्परा की एक धारा को देख रहे थे। मुझे लगता है कि बुद्ध और कबीर के बीच अगर सरहपा को शामिल किया जाए या उस पर ठीक से विचार किया जाए तो यह धारा और भी स्पष्ट होगी। राहुल जी ने बहुत सोच-समझकर ही सरहपा पर विचार का प्रस्ताव रखा था। बुद्ध के प्रभाव से ही अश्वघोष ने वर्णाश्रम व्यवस्था पर सबसे बड़ा प्रहार किया था। उनकी वज्रसूची इस बात का प्रमाण है। वर्णाश्रम व्यवस्था पर दूसरा बड़ा प्रहार सरहपा करते हैं। कबीर की पूर्वपीठिका यदि अश्वघोष और सरहपा में निर्मित होते हुए दिखाई पड़ती है तो हमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उस स्थापना पर ध्यान से विचार करने की जरूरत है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह मानते थे कि यदि इस्लाम न भी आया होता तो भी हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है, तो द्विवेदी जी रवीन्दनाथ की स्थापना का ही समर्थन कर रहे होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस परम्परा को समझ नहीं पाए थे, अतः वे सिद्धों और कबीर के महत्त्व को रेखांकित करने से चूक जाते हैं। परिणामस्वरूप सरहपा जैसे व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्यांकन होने से रह जाता है। बाद में राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत जाकर सरहपा की कविताओं को, जो कि भोट भाषा में अनूदित होकर मूल रूप में वहाँ मौजूद थीं, हिन्दी में लाने का काम किया और यह बताया कि सरहपा की कविताएँ समाज की विद्रूपताओं के खिलाफ विद्रोह की कविता है। उनकी कविताएँ तत्कालीन समय और समाज के लिए तो प्रासंगिक थीं। वे आज के समय और समाज के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा बुद्ध से कबीर तक की प्रतिरोध की उस परम्परा का अवगाहन करने के बावजूद सरहपा उनकी दृष्टि से छूट जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि राहुल जी ही एक ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने सरहपा की प्रतिरोधी चेतना को उनकी कविताओं के माध्यम से सामने लाया है। उन्होंने सरहपा के विद्रोही व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखा है कि, "सरहपा विद्रोही थे। राजनीतिक विद्रोही नहीं विचारों की दुनिया के विद्रोही और कितने ही अंशों में सामाजिक विद्रोही भी।"[3] अतः विद्रूप व्यवस्था के विरोध की ताकत उन्हें लोक से मिली ताकत थी। वे लोक की भाषा में बात करते थे। जनता को उनके कष्टों को दूर करने के उपाय उनकी भाषा में बताते थे। परिणामस्वरूप साधारण जनता शास्त्रों के उस चोले को उतारकर फेंक देना चाहती थी, जो पंडितों ने उन्हें झाँसा देकर और स्वर्ग-नरक का डर दिखाकर उनके ऊपर थोप दिया था। सरहपा जब उसका विरोध करते हैं, तब जनता उनसे प्रभावित होती है। सामान्य जनता, जो कि बदतर जीवन जीने को मजबूर थी और उसे अपनी नियति मान बन बैठी थी, उनमें सम्मानपूर्वक जीवन जीने की आशा का संचार होने लगता है। फलतः सरहपा जनता की श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं। सरह के नाम में 'पाद' प्रत्यय जनता की श्रद्धा का प्रमाण है, जिससे वे 'सरहपाद' बन जाते हैं। सरहपा

उसी का संक्षिप्त रूप है। राहुल जी ने लिखा है कि, "भक्त लोगों ने अपनी श्रद्धा के प्रतीक शब्द 'पाद' को जोड़कर उन्हें सरहपाद कहना शुरू कर दिया।"[4] अर्थात् सरहपा को लोक का समर्थन प्राप्त था। उनकी ताकत लोक की ताकत थी। इसी ताकत के बल पर उन्होंने तत्कालीन विभिन्न धर्मों के आडम्बर और पाखंड पर प्रहार किया था। ब्राह्मण जाति में जन्म लेने के बावजूद उन्होंने उसमें व्याप्त आडम्बरों का विरोध किया है–

"ब्रह्मणेहि ण जानन्तहीं भेउ। एवही पढ़िअउ ए च्चउ वेउ।
मट्टि पाणी कुस लइ पठंतम। घरहि बइसी अग्गि हुणंतम।
कज्जि विरहिअ हुअवह होमे। अख्खि डहाविअ कड्डुये धुमे।
एक दण्डि त्रिदण्डि भउवाँ बेसे। विणुआ होइ हंस उवेसे।।"

(दोहाकोश, पृ.सं. 83)

इस तरह से उनकी विद्वत्ता और शास्त्रों के ताम-झाम की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने जमकर उस जाति की श्रेष्ठता ग्रन्थि पर प्रहार किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी ब्राह्मण जाति को त्यागकर एक अछूत कन्या से विवाह भी कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। जब उन्हें बौद्ध धर्म में भी बुराई दिखाई पड़ी तो उन्होंने उसका भी विरोध किया–

"किन्तहि तित्थ तपोवण जाइ। मोक्ख कि लब्भई (पाणी न्हाई)।।
च्छड्डहु रे आलीका बंधा। सो मुन्चहु जो (अच्छहु धन्धा)।।"

उन्होंने न केवल ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में व्याप्त आडम्बरों का विरोध किया था, बल्कि तत्कालीन प्रचलित सभी धर्मों के आडम्बरों के खिलाफ आवाज उठाई थी। जैन धर्म का विरोध करते हुए उन्होंने कहा है–

"दीहणक्ख जइ मलिण बेंसें, णग्गल होइ उपाडिअ केसें।
खबणेहिं जाण विडंबिअ बेसें, अप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें।
जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।" *(दोहाकोश, पृ.सं. 84)*

घर-परिवार को छोड़कर वन में भटकनेवाले साधु-संन्यासियों को फटकारते हुए कहा है–

"घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।
सअलु णिरंतर बोहि-ठिअ, कहिं भव कहिं णिब्बाण।
णउ घरे णउ वणे बोहि ठिअ, एहु परिआणहु भेउ।
णिम्मल चित-सहावता, करहु अविकल सेउ।।"(दोहाकोश, पृ.सं. 27)

इसके पश्चात् उन्होंने उस मानसिकता पर भी जोरदार प्रहार किया है, जो यह बताती है कि विभिन्न तीर्थ-स्थानों पर जाने से ही मुक्ति मिलती है। जगत को झूठा

और नश्वर बताकर निर्वाण के लिए लोगों में डर बैठाकर अपना स्वार्थ पूरा करनेवाले धर्मनायकों को झूठा बताकर जन-सामान्य को निडर बनाने का काम भी हम सरहपा को करते हुए देख सकते हैं–

"एथु से सरसइ सोबणाह, एथु से गंगासाअरू।
वाराणसी पयाग एथु, सो चाँद दिवाअरू।
खेत पीठ उअपीठ एथु, मइ भमिअ सम्मिठउ।
देहा सरिस तित्थ मइ सुनउ ण दिट्ठउ।।" (दोहाकोश, पृ.सं.–35)

इन पंक्तियों में साफ देखा जा सकता है कि उन्होंने सभी तीर्थ-स्थानों का मूल अपने शरीर को माना है। उनके अनुसार सरस्वती, सोमनाथ, गंगासागर, बनारस, प्रयाग, क्षेत्र, पीठ, उपपीठ सब शरीर के भीतर ही हैं। इनके लिए कहीं और भटकने की जरूरत नहीं है। उन्होंने तत्कालीन समाज में फैले तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग की उस मानसिकता का भी खंडन किया है, जिसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का भ्रम जनता के बीच फैलाया जा रहा था–

"मन्त ण तन्त ण धेय ण धारण। सब्बवि रे बढ़ विब्भमकारण।।"
(दोहाकोश, पृ.सं. 27)

उन्होंने जीवन को सफल और सुखमय बनाने के लिए गुरु की महत्ता पर बल दिया है और शास्त्रों का खंडन किया है। उन्होंने लिखा है–

"गुरु वअण अमिअ रस, धवहिं ण पिविअउ जहिं।
बहु सात्थात्थ-मरुत्थलिहिं, तिसिअ मरिब्बो तेहिं।।"

(दोहाकोश, पृ.सं. 26)

इस संसार को नश्वर और एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य बतानेवाले पंडितों एवं आचार्यों का विरोध करते हुए सरहपा ने इस संसार को ही सब कुछ माना है। जगत को मिथ्या और ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य माननेवाले शंकराचार्य के मत का खंडन करते हुए सरहपा ने लिखा है–

'जइ जग पुरइ सहजाणंदे, णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे।'

(दोहाकोश, पृ.सं. 28)

ऊँच-नीच और छुआछूत वाली धारणा का खंडन करते हुए उन्होंने लिखा है–

'जइ चण्डाल-घरे भुञ्जइ, तअवि ण लग्गइ लेउ।'(दोहाकोश, पृ.सं. 27)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरहपा का व्यक्तित्व कितना क्रान्तिकारी था। उन्होंने किसी भी धर्म के पाखंड को नहीं बख्शा था। दिखावा उन्हें बिल्कुल भी पसन्द नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने पांडित्य को त्यागकर जनता को शोषण से मुक्त करने

का बीड़ा उठाया था। राहुल जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "आज के लिए भी सरह के ये विचार विद्रोही मालूम होंगे, फिर आज से बारह सौ पहले के आचार और निवृत्ति-प्रधान भारतीय भद्र समाज के लिए कितनी कड़वी घूँट साबित हुई होंगी, इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।"[5]

सरहपा की कविताओं को लेकर हिन्दी में एक धारणा बना ली गई है कि उनकी कविताएँ समझ में नहीं आतीं। लेकिन यह कोई कारण नहीं है। यदि हमें वह समझ में नहीं आती तो यह हमारी कमजोरी और सीमा दोनों है। यह हमारी अकर्मण्यता को ही दर्शाता है कि उन्हें समझने का प्रयास हम नहीं करते हैं। शुक्ल जी ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'कविता क्या है' में लिखा है कि, "काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।"[6] इस दृष्टि से यदि सरहपा की कविता को देखें और समझने का प्रयास करें तो वह बिल्कुल समझ में आती है। सरहपा की कविताएँ लोक की भाषा में लिखी गई कविताएँ थीं। अतः उनकी कविता को समझने के लिए हमें लोक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना होगा। उससे कटे रहकर उनकी कविता को हम कभी नहीं समझ पाएँगे। आज हम सभ्यता के विकास की अंधी दौड़ में हम लोक से कट गए हैं। फलतः हमें अपने गाँव में बोली जा रही आज की भाषा भी समझ में कम ही आती है। जबकि सरहपा की कविताओं की भाषा तब की है, जब हिन्दी अपना रूप और आकार ले रही थी।

आज लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति पर बहुत जोर दिया जा रहा है। उसकी खूब चिन्ता की जा रही है और यह बताया जा रहा है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में लोक खत्म होता जा रहा है। लोक की भाषाएँ मरती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में लोक को केन्द्र में रखकर तमाम शोध-कार्य हो रहे हैं, किन्तु उनमें भी सरहपा और सिद्धों की चर्चा नहीं होती। जबकि उनका सारा-का-सारा साहित्य ही लोक को ध्यान में रखकर लिखा गया था। दरअसल, लोक कहते ही हमारे सामने गँवारू लोगों का चित्र उभरकर आता है। हम यह मान लेते हैं कि लोक में अनपढ़ लोग ही रहते हैं और उनकी भाषा अशुद्ध होती है। इसलिए हम उनसे एक दूरी बनाकर चलते हैं, अतः सरहपा की कविताएँ लोक-भाषा में लिखी गई थीं तो हमें समझ में नहीं आती और न ही हम उसे समझने का प्रयास करते हैं। हमारी इसी मानसिकता की ओर इशारा करते हुए रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि, "सिद्धों की कविता जनता की भाषा से सम्बन्ध रखती थी, अतएव साहित्य-क्षेत्र में वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी गई। इसलिए उसके अवतरण कहीं देखने में नहीं आते।"[7] वर्मा जी ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि 'साहित्य में वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती रही है।' चूँकि अधिकांश साहित्यकारों ने उसे उस दृष्टिकोण से देखा है, जिस ओर रामकुमार वर्मा इशारा कर रहे हैं, अतः हम भी उन्हीं की दृष्टि से उसे देखते आ रहे हैं। यही कारण है कि जब कभी भी उनकी कविताएँ हमारी नजरों के सामने आती हैं, हम उसे समझने में असमर्थ होते हैं।

इसलिए आज हमें अपने उस लोक से जुड़ने की जरूरत है, जो विकास की अंधी दौड़ में हमसे पीछे छूट गए हैं या छोड़ दिए गए हैं। तभी हम साहित्य से खुद को और लोक से साहित्य को जोड़ सकते हैं। अन्यथा यह कुछ ही लोगों तक सीमित होकर उनके वाक्-विलास के साधन मात्र बनकर रह जाएँगे। परिणामतः पुस्तकालय तो भरते जाएँगे, लेकिन हम उनसे दूर होते जाएँगे और लोक पीछे छूटता चला जाएगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 33वाँ, पृ.सं. 4
2. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृ.सं. 136
3. दोहाकोश, सं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ.सं. 26
4. वही, पृ.सं. 15
5. वही, पृ.सं. 29
6. चिन्तामणि (भाग-1), विश्वविद्यालय प्रकाशन, सं. 2002 ई., पृ.सं. 89
7. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2007, पृ.सं. 53

पूर्णियाँ अँचल के लोकगीतों की बहुरंगी छवियाँ

डॉ. छोटे लाल बहरदार*

एक ओर लोकगीत मिट्टी की गन्ध और सामान्य लोगों की सभ्यता, संस्कृति, मान्यता, विश्वास और धारणाओं को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर लोक जिह्वा पर लम्बे समय तक तैरते रहने के कारण इसकी मौलिकता के समाप्त हो जाने या पूर्णतः विलुप्त हो जाने का भी खतरा रहता है।

लोक-साहित्य में जन-जीवन का सच्चा और स्वाभाविक चित्र उपलब्ध होता है। किसी समाज का वास्तविक चित्र देखना हो तो उसके लोक-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। इतिहास के पन्नों में लड़ाई-झगड़ों और संघर्षों का विवरण मिल सकता है, परन्तु समाज के यथातथ्य चित्रण के लिए लोक-साहित्य का अनुसन्धान ही करना पड़ेगा।

लोकसंगीत का पृथक्-पृथक् समाजशास्त्रीय एवं भाषाशास्त्रीय मूल्यांकन के द्वारा ही लोक-जीवन के सारे तत्त्वों को प्रकाश में लाया जा सकता है। प्रस्तुत आलेख में पूर्णियाँ अंचल के लोकगीतों का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन किया जा रहा है।

भारतीय समाज-संस्कार सम्बन्धी कृत्यों से आवेष्ठित है। पूर्णियाँ अंचल में इन संस्कारों में पुत्र-जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना और मृत्यु-सम्बन्धी लोकगीत प्रचलित हैं।

विवेच्य पूर्णियाँ अंचल के संस्कार सम्बन्धी लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनमें भावों को प्रभावोत्पादक ढंग से श्रोताओं तक पहुँचाने की अद्‌भुत शक्ति है। इस दृष्टि से ये गीत सफलता के चरमोत्कर्ष पर हैं। पुत्र-जन्म का आह्लाद, मुंडन के समय की शुभकामनाएँ, यज्ञोपवीत का विधि-विधान तथा दान-पुण्य, विवाह का हर्ष-विषाद, गवना के समय की पुत्री विदाई का कारुणिक क्षण तथा मृत्यु का अवसाद सभी संस्कार गीतों में अपनी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति पाते हैं। कहीं-कहीं गीतों की वार्तालाप शैली उन्हें और प्रभावशाली बना देती है।

*डॉ. छोटे लाल बहरदार, शंकर चौक, ततमा टोली, पूर्णियाँ-854301

मुख्यतः नारियों के द्वारा सृजित ये गीत उनकी पीड़ा और अनुभवों को बहुत ही सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं आपसी नोंक-झोंक के बीच लक्षणा-शक्ति का अद्‌भुत प्रयोग मिलता है।

विवाह का यह अंश कन्या की दारुण दशा की व्यंजना करता है—

'बाबा यो कौन नगर जुआ खेलि अइलो
कि हमार के हरि अइलों।
महिसिया बेटी द्वारे के शृंगार थिके
तहु बेटी जीवन के जंजाल थिकह हे।

कहीं-कहीं गीतों की वार्तालाप शैली उन्हें और प्रभावशाली बना देती है—

'एहो रे पथिक वर, कहाँ तेरो शुभ घर,
किय निज पिताजी के नाम धनुषधरिया'

इन गीतों में अलंकारों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। रूपक अलंकार का एक उदाहरण—

'लिए सिन्दुर कर-कलम मुदित चित।'

उपमा अलंकार निम्नांकित सम्पूर्ण गीत में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुआ है—

'माई हे मड़ुवा पर दुल्हा खड़ा छै कोना,
जेना सखुआ के खूँटा खड़ा छै तेना।
सखी हे मड़ुवा पर दुल्हा घुमै छै कोना,
जेना कोल्हुआ पर बरदबा घुमै छै तेना।'

इसी तरह अनायास ही कहीं अतिशयोक्ति, कहीं स्वाभावोक्ति और कहीं उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

पूर्णियाँ अंचल के ऋतु-गीतों में कजली, होली, चैती और बारहमासा मुख्य रूप से प्रचलित हैं। कजली के गीत मुख्यतः वर्षा ऋतु में गाए जाते हैं। इन गीतों में प्राकृतिक छटा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण मिलता है—आलम्बन और उद्‌दीपन दोनों रूपों में। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण के ये उदाहरण बड़े ही आकर्षक हैं—

'कारे-कारे आए बदरवा
बरसत मूसलाधार।
आज सघन बूँद बरसे बदरवा
पवन बहत जोर, पपीहा करत शोर।

जिस तरह कजली के गीतों में औरतें प्रसन्नता और मस्ती से झूमती हैं, उसी तरह होली के गीतों में पुरुष नायक-नायिका के रूप में कृष्ण और राधा को प्रतिष्ठित कर दोनों की मस्ती का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

'कृष्ण के हाथ कनक पिचकारी, राधा के हाथ अबीर झोरी।'

आपस में नोंक-झोंक भी चलती है, लेकिन उसमें भी आपसी प्यार झलकता है–

'हाँ-हाँ करत मारत पिचकारी मानत नहीं मुरारी।
जौं एक बूँद पड़ी मुख ऊपर, दैहे हजारण गारी।''

होली के गीतों में अधिकतर प्रेम और संयोग की मधुर ध्वनि ही प्रतिध्वनित होती है। राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती और सीता-राम की सरस क्रीड़ाओं के माध्यम से लोग अपनी शृंगार भावनाओं एवं प्रेम को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

पूर्णियाँ अंचल के सम्पूर्ण चैती लोकगीतों में या तो प्रकृति एवं फूल का चित्रण है या पति के पाने की तीव्राकांक्षा का। इसी सन्दर्भ में उस बेबसी और पीड़ा का भी चित्रण हुआ है, जो पति वियुक्ति नारी को इस मौसम में भोगना पड़ता है–

''चेत मास यौवन फुलायल हो रामा
पिया नहिं आयल।
पिया नहिं आयल, चैत मास आयल
रहि-रहि जिया घबरायल हो रामा,
कि पिया नहिं आयल।''

कोयल सोए पति को जगा देती है जिससे वे शारीरिक भोग के लिए लालायित हो उठती है। नायिका बड़ा मीठा उपालम्भ देती हुई कहती है–

''कोयल बोलय हमरी अटरिया
सूतल पिया मोर जागल हो रामा।
सूतल पिया के जगैली गे कोयली
तोर मीठी बोलिया।
अंग-अंग अँगड़ाई लेक पिया उठल
लागि गेल चान में गहनवाँ गे कोयली।''

यहाँ ''लागि गेल चान में गहनवाँ गे कोयली।'' कहकर व्यंजना शब्द-शक्ति का कितना अच्छा प्रयोग दिखाई पड़ता है।

नायिका वर्ष के ग्यारह महीने पति-वियोग के दुःख को झेलती है और अन्त में उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। परदेश में रहनेवाले पति इतने निष्ठुर हैं कि न तो स्वयं आते हैं और न पत्र ही भेजते हैं–

''जब हम भेलै नवरस जवनिया,
भूल गेले सुधिया हमार गे।''

कला-पक्ष की दृष्टि से ऋतु-सम्बन्धी लोकगीत बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे गीतों में जिस शिल्प का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है वह नाटकीय कथोपकथन का है–

''अगहन हे सखि पिया न आए, पति जे मिलले बेनाम हे।''
'चलु सखि देखन जनक फुलवरिया हो रामा।'

शब्द-शक्ति की दृष्टि से मुख्यतया अभिधा और लक्षणा का प्रयोग हुआ है, लेकिन कहीं-कहीं व्यंजना शब्द-शक्ति भी अपना कमाल दिखाती है–

''अंग-अंग अँगराई, लेके पिया उठल
लागि गेल चान में गहनवाँ गे कोयली।''

भाषा की दृष्टि से इन लोकगीतों में मुख्यतः अपभ्रष्ट मैथिली का प्रयोग हुआ है–

'नह भेजे पतिया
आयल चैत उतपतिया हे रामा।'

रस की दृष्टि से ऋतु-सम्बन्धी सम्पूर्ण लोकगीत शृंगार रस के हैं–

'धसमस-कसमस सखि सब भागे,
कान्हा करत झिकझोरी
आलिंगन परिरंभन करि-करि,
लाला, लाला कियो कपोल कुरंग।
कृष्ण के हाथ कनक पिचकारी,
राधा हाथ अबीर झोरी।'

इन गीतों में विभिन्न अलंकारों के सुन्दर प्रयोग देखे जा सकते हैं। उपमालंकार की छटा तो देखिए–

'विरहिनी बाट जोहत प्रियतम के
जैसे चन्द्र चकोर।'

रूपक अलंकार का प्रयोग भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है–

'भीगता बदन प्रेम रस।'

रूपक के अलावे अनुप्रास अलंकार भी अनेक स्थल पर देखने को मिलता है–

'बोलत विविध विहंग
विरह व्याकुल वश।'

तद्गुण अलंकार की छटा मन को मोहने वाली ही नहीं, मन में टीस पैदा करने वाली है–

'तू हे कृष्ण सघन सावन की घटा
राधा हे दामिनी दमक रही।'

काव्य-गुण की दृष्टि से ऋतु-गीतों में मुख्यतः माधुर्यभाव का प्रयोग हुआ है।

पूर्णियाँ अंचल के व्रत-सम्बन्धी लोकगीतों में काव्य-शास्त्र के सभी पक्षों का प्रभावशाली रूप तो नहीं मिलता है, परन्तु अनायास काव्य-शास्त्र के अनेक अंगों की अभिव्यक्ति हो गई है।

शब्द-शक्ति की दृष्टि से इन लोकगीतों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्ति का प्रयोग देखने को मिलता है। लक्षणा शब्द-शक्ति का चित्र तो देखिए–

'कौन भैया के धोतिया,
आकाश सुखनि हे,
पाताल डोलनि हे
आहे कौन बहिनी के डालवा
मानिक जड़े हे।''

भाषा की दृष्टि से इन गीतों में अपभ्रष्ट मैथिली और भोजपुरी का प्रयोग देखने को मिलता है–

'तहू जब जाइछ हो भैया अवध नगरिया
हमरो ले जे अनिये हो भैया केलवा सन्देशवा।'

उपर्युक्त गीतों में नगरिया, सन्देशवा जैसे शब्द भोजपुरी रूप के द्योतक हैं।

रस की दृष्टि से व्रत-सम्बन्धी गीतों में मुख्यतः शान्त रस का प्रयोग हुआ है। कहीं मन की छटपटाहट है तो कहीं नैराश्य की भावना। कहीं स्नेह का बन्धन है तो कहीं कल्याण की आकांक्षा–

''अन-धन लक्ष्मी हो दीनानाथ अपने बहुत
एकये पुत्र बिना हो दीना नाथ, सैरा छे अन्हार।''

बाँझ स्त्री पुत्र-प्राप्ति के लिए आर्त स्वर से निवेदन करती है, तब वहाँ भी करुण रस की धारा फूट पड़ती है।

श्यामा-चकेवा के गीतों में भाई-बहन के स्नेह का बड़ा ही दिव्य चित्रण हुआ है। बहन की कारुणिक स्थिति में करुण रस की झलक मिलती है।

'जनु कानु खीज गे बहिनो,
बाबा के सम्पति देवौ बाँट।'

छन्द की दृष्टि से पूर्णियाँ अंचल के व्रत-सम्बन्धी लोकगीत छन्द से मुक्त हैं, परन्तु अनेक स्थलों पर अलंकार की छटा दर्शनीय हैं। काव्यलिंग, अत्युक्ति, अनुप्रास एवं वीप्सा अलंकार की छटा तो देखिए–

'उगह-उगह हो दीनानाथ अरख के बेरिया
तोहरों ले आहो दीनानाथ केला खरीदलों – काव्यलिंग

'पिकरी के रेत हो भैया जमुना बहे हो धारं' – अत्युक्ति

वृन्दावन बिट बाँस – अनुप्रास

अगिनो न जरतो गे हीरा मोती पानियो ने डूबतो गे – वीप्सा

पूर्णियाँ अंचल के व्यवसाय-सम्बन्धी लोकगीतों में करुण रस की प्रधानता है। कला-पक्ष की दृष्टि से इन लोकगीतों में अलंकारों का बहुत कम प्रयोग हुआ है, परन्तु आलम्बन रूप में प्रकृति का बड़ा ही मनोहारी रूप देखने को मिलता है–

'गरज-गरज बदरवा, बरसावे पानी
धीरे-धीरे झड़ल रहे सावन के बदरिया।'

ऐसे गीतों में नाटकीय कथोप-कथन का प्रचुर प्रयोग हुआ है–

'आन दिन बोले कोयली भोरे रे भिनसरवा
आजु के दिनवां कोयली बोले आधी रतिया
हम धनी झूलब सारी रतिया हे।

कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग भी देखने को मिलता है–

''कथी केरी छैलिया गे समरो, कथी केरी गरूलिया
कौन बेनरी पानी ले भेजल रे की?''

इन लोकगीतों में मुख्यतः अपभ्रष्ट मैथिली का प्रयोग हुआ है–

'भाय जीव मारव हे स्वामीनाथ
असगर पैवे तिरिया के माने मीर वध लागत रे की।'

रस की दृष्टि से इन गीतों में मुख्यतः शृंगार रस का वर्णन हुआ है। विप्रलम्भ शृंगार को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

'तोर बोली सुनि पिया गैले परदेशिया
तोरी बोली सुनि ना।
गौनवा कराइ पिया देहरी बैठाई देली
आपनों चलल पिया पूरब नौकरिया रे ना।

कहीं-कहीं संयोग शृंगार का भी बड़ा अच्छा वर्णन हुआ है–

सासु मोरा अन्धी छले, ननद ससुररिया,
घर के पश्चिम रे सिपाही पीपर केर गछिया

कुछ गीतों में करुण रस की झाँकी भी दिखाई पड़ती है–

'पिया परदेश गैले, हमरो के दुख भेले,
दिन-रात परे मोरा गारि हे सखिया।'

पूर्णियाँ अंचल के देवी-देवताओं के गीतों में कहीं प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग हुआ है तो कहीं निवेदन द्वारा ही अपनी भावना को आरोपित किया गया है। प्रश्नोत्तर शैली का उदाहरण तो देखिए–

''की खेता तुलसी, की खेता राम
की खेता लक्ष्मण, की हनुमान?''

शब्द-शक्ति की दृष्टि से मुख्यतया अभिधा शब्द-शक्ति का प्रयोग देखने को मिलता है–

'ई बुढ़वा किछु टोना जनैय,
गौरी के केल बताही।'

रस की दृष्टि से इन गीतों में शान्त रस का प्रयोग दिखाई पड़ता है–

'सुबुद्धि सयानी तहू मृगलोचनि,
मुख तोर चान समान हे।
जनम-जनम के प्रीत पुरानी
इहो थिक विदित जहान हे।'

इन गीतों में अनेक स्थल पर अलंकार की छटा दर्शनीय है। रूपक अलंकार की छटा तो देखिए–

'शिव, जोगिया के ऐले बरात।'

कहीं रूपक की छटा तो कहीं स्वाभावोक्ति अलंकार का चित्र–

'लाल लँगोट, हाथ में सोटा
अंजनी पवन सुत नामा।'

इसके अलावा कहीं वीप्सा, कहीं विरोधाभास, कहीं अत्युक्ति और कहीं काव्यलिंग अलंकार का भी बड़ा अच्छा प्रयोग हुआ है।

इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं –

कल-कल, छल-छल, छप-छप गंगा मैया – वीप्सा

बिन बाती, बिन तेल के दीया
निशि-बासर के यो रहत जराय। – विरोधाभास

छोटी-छोटी तुलसी के गछिया मैया
भुईया लोटे हे डार। – अत्युक्ति

पूर्णियाँ अंचल के विविध लोकगीत काव्यशास्त्रीय दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे गीतों में नाटकीय शिल्प का प्रश्नोत्तर शैली में कई स्थानों पर प्रयोग देखने को मिलता है।

'कौन मास तोहरो विवाह
कौन मास गौना भेल हे
सुन्दरी हे कौन मास गेल ससुराल,
कौन मास पिया परदेश गेल हे।'

शब्द-शक्ति की दृष्टि से इन गीतों में मुख्यतया अभिधा का प्रयोग हुआ है। लेकिन कहीं-कहीं व्यंजना और लक्षणा शब्द-शक्ति का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। व्यंजना शब्द-शक्ति को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

'काँचे कलिया मत तोड़ो बलम जी
रस होने दो तब आ जाना।'

लक्षणा शब्द-शक्ति का सफल प्रयोग देखिए–

'बनवारी हो, लोटवा में डोरिया ना समाई।'

भाषा की दृष्टि से इन गीतों में अपभ्रष्ट मैथिली, भोजपुरी और खड़ी बोली का प्रयोग मुख्यतः देखने को मिलता है–

'आयल दोऊ भूप किशोर
शोर भेल भारी।' – *अपभ्रष्ट मैथिली*

'कैसे हम चलब डगरिया,
यही सुरतिया लेके ना।' – *भोजपुरी*

'जैसे हम हैं रसीली,
वैसे पिया ना मिला।' – *खड़ी बोली*

रस की दृष्टि से विविध लोकगीतों में शृंगार एवं शान्त रस का प्रयोग देखने को मिलता है। शृंगार रस का कितना स्वाभाविक चित्रण किया गया है–

'हमरा चढ़ल बा जबनिया,
पिया करेला नादानियाँ
हमसे बोले नाहीं मीठी बोलिया
चेहरा केहुले बा अन्हरिया
दिल के हाल पिया के,
बताईब कैसे... ।'

वियोग शृंगार का चित्र भी अजब ही दिखाई देता है–

''कार्तिक बीते, अगहन बीते, बीते पूस महीना
माघ मास बलम नहिं आए, फागुन मस्त महीना
करि शृंगार पलँग चढ़ि बेठी, रोम-रोम गहि वीना
चोलिया के बन्द फरकन लागे, योवन होत मलीना।''

इन गीतों में लोकोक्ति एवं मुहावरों का यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है–

'छोटे सों बड़े होतु हैं – *लोकोक्ति*

मर हारे, अगिया लगैबो — मुहावरा

दिल टूटल, चेहरा कर लेबा अन्हरिया
फाटे लोगबा के छतिया — मुहावरा

अध्येय विविध लोकगीतों में विरोधाभास, अन्योक्ति, अत्युक्ति, रूपक, अनुप्रास, असंगति, अपह्नुति एवं उपमा अलंकार का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है—

जिसका उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—

'हाथ नहीं, पाँच नहीं, सिर के विहुनियाँ
ठुमक-ठुमक नाच नाचे
सिर के विहुनियाँ — विरोधाभास

'चार कहार मिली डोलिया उठैले
आगे-आगे रहिया बतावल हो रामा — अन्योक्ति

'छोटका बलम लेकर सूतलि ओसरवा
बनवारी हो जरि गेल हमरो कपार — अत्योक्ति

'सो जड़ी मोहि प्यारी लगतु, अमृत रसन भरी
कायानगर अजब इक 'बँगला'

तामें गुप्त धरी — रूपक

'कपटी, कुटिल, कुबुद्धि, कुमारग — अनुप्रास

फाटे लोगवा के छतिया,
मोरी सुरतिया देखि के ना' — असंगति

'काँचे कलिया मत तोड़ो बलम जी

रस होने दो, तब आ जाना' — अपह्नुति

'धनुषिया जैसी झुकि जाय'— उपमा

कई स्थलों पर प्रतीकात्मकता के दर्शन भी होते हैं—

'पिया का गाँव, मेरा ससुरार
बह्म-जीव बीच माया का सार।'

इस प्रकार विविध लोकगीत के अन्तर्गत आए निर्गुण एवं पराती के बीच काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

आबादी और संसाधनों का रिश्ता

डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल

'जनसंख्या विस्फोटक' जैसे शब्द मालथस की अवधारणा पर आधारित है। दुर्भाग्य से इस देश के नीति-निर्धारक बहुप्रचलित मिथकों और आधुनिकता के प्रभाव में हैं।

अँग्रेजों के आगमन से पूर्व यह देश-समाज किस प्रकार अपनी निजी और स्वायत्त व्यवस्थाओं पर चलता था यह बात विस्मरणीय हो गई लगती है। हर समाज की अपनी एक जीवन्त जीवन-दृष्टि होती है। उस जीवन-दृष्टि से अपनी मान्यताओं और उन मान्यताओं पर आधारित व्यवस्थाओं से वह देश-समाज चलता है। परस्पर समुदायों के स्तर पर या व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर आपसी रिश्ते इन्हीं मान्यताओं और व्यवस्थाओं को बनाई पद्धति से निर्धारित होते हैं।

परन्तु कालान्तर में अनेक कारणों से इन व्यवस्थाओं और मान्यताओं में बदलाव आते रहते हैं।

भारत में लगभग 4635 समुदायों का एक अध्ययन एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ने अपने एक सौ खण्डीय ग्रन्थ 'पीपुल ऑफ इण्डिया' में किया है। इस अध्ययन से पता चलता है कि ऐसी जातियाँ या समुदाय शायद कम ही होंगे जहाँ के निवासियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर अप्रवासन नहीं हुआ है। विभिन्न समुदायों के जाति-पुराणों में इनका विवरण मिलता है। निश्चय ही ऐसा विस्थापन या अप्रवासन मान्यताओं और व्यवस्थाओं में बदलाव लाया होगा। किन्हीं विदेशी प्रभुत्व के कारण भी देश-समाज में बदलाव आते हैं। कभी ये बदलाव सहज होते है और समाज के मनोबल को नहीं तोड़ते, परन्तु अधिकांशतः जब कोई बाहरी ताकत शोषण करने, प्रभुत्व जमाने या अपने को श्रेष्ठ साबित करने के उपक्रम में बदलाव लाती है, तो ऐसे बदलाव समाज की अस्मिता, उसकी पहचान, और उसके आत्म-विश्वास को तोड़ते हैं। इस व्यतिक्रम से समाज में टूटन आती है और वह समाज, निराशा, हताशा और

* पूर्व प्राचार्य : डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल; संपर्क : एच/899, पुरानी हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना 476001 (म.प्र.); मो. 08989479298

हीन-भावना से भर जाता है। इसके परिणामस्वरूप उस समाज का जो भी निजत्व था, उसे आम आदमी निरर्थक मानकर आत्मग्लानि, आत्म हतोत्साह और हीन भावना से भर जाता है। ऐसा सामुदायिक स्तर पर और निजी-पारिवारिक स्तर पर दोनों में देखा जा सकता है।

भारतवर्ष में पिछले 200-250 वर्षों में अँग्रेजों द्वारा थापी गई मान्यताओं से कुछ ऐसा ही हुआ है।

भारतवर्ष में गैर-मालथसीय सिद्धान्तों का आजादी और संसाधनों की उपलब्धता पर अपना सम्पूर्ण शास्त्र है। आँकड़ों के अनुसार विश्व में सन् 1950 में प्रति हेक्टेयर उपजाऊ भूमि पर 1.9 व्यक्ति का दबाव था जो सन् 2000 में बढ़कर 4.0 व्यक्ति प्रति हेक्टेयर हो गया है। इसकी तुलना में भारत में यह आँकड़ा सन् 1950 में प्रति हेक्टेयर उपजाऊ भूमि पर 2.2 व्यक्ति था जो सन् 2000 में बढ़कर 5.1 व्यक्ति प्रति उपजाऊ हेक्टेयर भूमि हो गया है। परन्तु इस सन्दर्भ में विश्व के डेमोग्राफर यह बात नहीं बतलाते कि मौसम की अनुकूलता और जल की उपलब्धता के कारण भारत में उसी भूमि में वर्ष में दो फसल ले लेते हैं। (जैसा अन्य देशों में सम्भव नहीं है।) (स्रोत : 'सनातन भारत-जागृत भारत' जितेन्द्र बजाज आदि, सेण्टर फॉर पॉलिसी स्टडीज, चेन्नई, 2001) कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित है कि एक ग्राम में लगभग एक सौ घर होने चाहिए। अनेक ग्रन्थों में तब पाँच लाख गाँवों की कल्पना की गई थी, यदि एक घर में आठ सदस्य हों तो इस गणना के अनुसार तब भारत गणतन्त्र की जनसंख्या 50 करोड़ बैठती है। विश्व में तब भारत सबसे घनी आबादी का देश माना जाता था। इसी से भारतीय सभ्यता पहले नम्बर पर थी। आज भारत के सभ्यताओं को चौथा स्थान दिया जाता है—यूरोपीय चीनी और इस्लामी सभ्यताओं के बाद।

आज के सरकारी आँकड़ों के अनुसार भारत में प्रति हेक्टेयर गेहूँ की पैदावार 4.3 टन है जबकि धान की पैदावार प्रति हेक्टेयर 5.5 टन है।

शिलालेखों में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर सन् 900-1200 में इतंजावुर में प्रति हेक्टेयर धान की पैदावार प्रति हेक्टेयर 15 से 18 टन थी। दक्षिण अरकोट में सन् 1100 में यह आँकड़ा 14.5 टन प्रति हेक्टेयर था।

बाद के समय, अँग्रेजों के आगमन से तत्काल पूर्व तक कि पैदावार का प्रतिशत आज की तुलना में बहुत ऊँचा था। स्वयं यूरोपीय अधिकारियों के डिस्पेजों से ऐसा उल्लेख मिलता है कि सन् 1907 में कोयम्बटूर में प्रति हेक्टेयर धान की पैदावार 13 टन थी। चिंगलवेट में सन् 1770 में ब्रिटिश सर्वेक्षण के अनुसार 9.0 टन धान प्रति हेक्टेयर होता था। (अतः Some aspects of Earlier Indian Society and Their Relevance of the Present.' धर्मपाल आई.ए.सी.ई. पूना 1998 और प्रसिद्ध गाँधीवादी इतिहासकारक धर्मपाल के अन्य ग्रन्थ।) शायद इसी कारण भारत की भूमि को शस्य श्यामला कहा जाता होगा। इस्पात, वस्त्र, उद्योग, शिक्षा आदि के क्षेत्र में भारत की

उपलब्धियाँ 18वीं शताब्दी तक भी अपनी ऊँचाइयों को छू रही थीं। भारत की आबादी इसमें कभी बाधक और प्राकृतिक संसाधनों की भरपूर सुलभता ने हमारी जनसंख्या और आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक भारतीय जीवन-दृष्टि से उपजी व्यवस्थाओं का जाल बिछा रखा था। वर्षा और स्थानीय जन स्रोतों के संचालन की हमारी अपनी बेहतर व्यवस्था थी। महामारी, भूस्खलन, सूखा, अतिवर्षा तब भी होते थे, परन्तु एक साल बीतने पर पुनः व्यवस्थाएँ इन्हें झेल लेती थीं।

आज जो हम सूखे, बाढ़, आदि का प्रकोप झेलते हैं ये अँग्रेजों की अदूरदर्शी नीतियों का परिणाम।

पिछले 200-250 वर्षों में यूरोपीय या पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में जो पेशेवर लोग भारत की समस्याओं के लिए समाधान सुझाते हैं उन्हें भारतीय समाज के संचालन के पारस्परिक तरीकों की खोज-खबर लेनी चाहिए। क्योंकि संस्कृति, राजनीति, अर्थतन्त्र और समाज में स्वधर्म हमारे अनुकूल है।

सूफी कवि जायसी और उनका सौन्दर्य-बोध

विजय बहादुर सिंह*

इस्लामी देशों में सूफी काव्य और दर्शन को यों तो वैश्विक सन्दर्भ में रहस्यवाद ही कहा गया है तब भी हिन्दू रहस्यवाद की तरह इसे इस्लाम में ठीक वैसी ही मान्यता नहीं हुई है। हिन्दू समाज में तो रहस्यवादियों को बहुत ऊँची निगाह से देखा जाता है कबीरदास इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। बाबा फरीद आदि भी। इस्लाम की हदों से बाहर जाकर मंसूर जैसे 'अनल-हक' कहने वालों को प्राणदण्ड भी दिया गया है। सच तो यह है कि खुदा या अल्ला—अपने पैगम्बरों से भी अलग है जबकि हिन्दू रहस्यवाद में 'अहं ब्रह्मास्मि' के अद्वैत के सच को उपनिषद् काल से लेकर मानसिक औदात्य के बल पर रहस्यानुभूति को काव्यानुभूति बनाने वाले छायावादियों को भी अत्यन्त गौरव प्राप्त है। तब प्रसाद जी ठीक ही कहते हैं—''शामी धर्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नहीं त्याज्य भी है।''[1] मंसूर ने यही गलती की थी कि उसने अद्वैत भाव स्थापित करने का साहस किया। तभी तो उसे प्राणदण्ड मिला।

पर यह तो बेखटके कहा जा सकता है कि सूफीवाद इस्लामी दर्शन और चिन्तन का सबसे दिव्य, उदात्त और सह्य संस्करण है। ऐसा न होता तो इस्लाम का जो रूप और विस्तार आज हम भारत में देख रहे हैं, वह इतना तो कभी भी सम्भव न होता।

पता नहीं यह मात्र किंवदन्ती है या फिर ऐतिहासिक सच कि कई एक युद्धों की तरह इस बार भी मुहम्मद गोरी जब अपनी सेवा सहित निराश हो लौटा चला जा रहा था तभी उधर से एक फकीरनुमा मामूली-सा आदमी हिन्दुस्तान की तरफ बगैर किसी हथियार के चला आ रहा था। उस मामूली से दिखने वाले आदमी को पास बुलवा कर जब उसने पूछा कि मैं तो इतनी सेना सहित जब इस देश को फतह करने में सफल नहीं हो पा रहा तब तुम इधर खाली हाथ कैसे चले जा रहे हो? तब उस अनजान से शख्स ने सुल्तान गोरी से कहा कि तुम तलवार लेकर गए थे पर मेरे हाथ तो सिर्फ कुरान है और उसमें भाई-चारे की महक लिये प्रेम का सन्देश।

*29, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म.प्र.), मो. 09425030392.

कहते हैं ये शख्स कोई और नहीं ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती थे। वही ख्वाजा मुइनद्दीन चिश्ती जिनकी मजार के प्रकाश से अजमेर अजमेर बना हुआ है। यों ही उसे दरगाह-शरीफ नहीं कहते।

फारस से आकर लाहौर में आ बसने वाले सूफी अलहुज्वीरो ने लिखा है—''वह जिसने सर्वस्व त्याग दिया है, निरन्तर अपने प्रिय में डूबा हुआ है और जिसका समूचा अस्तित्व दिव्य प्रेम के प्रकाश से पवित्र हो चुका है, वही सूफी है।[1]

मैंने पहले ही कहा कि इस्लाम के भारत में प्रचार-प्रसार में सूफी सन्तों का योगदान बहुत बड़ा है। उनके पास तसव्वुफ की आध्यात्मिक अनुभूति तो थी ही, प्रेम का सन्देश भी था। इसलिए आचार्य शुक्ल की यह अवधारणा बहुत तर्कपूर्ण अब नहीं कही जा सकती कि भक्ति आन्दोलन मुसलमानी सत्ता के अत्याचारों के चलते ही यहाँ उदित हुआ। शुक्ल जो यह जाने क्यों नहीं कहते कि वर्ण-व्यवस्था के अत्याचारों और जाति-व्यवस्थाओं की कट्टरताओं के चलते पिछड़ी और दलित जातियाँ इस्लाम के प्रति आकृष्ट हुईं। निस्सन्देह इसमें कुछ योगदान इस्लामी रहस्यवाद से प्रेरित उन उच्च वर्णों का भी था पर कुछेक अवश्य ही तलवारों से भयभीत होकर भी उधर गए। पिछड़ी और दलित जातियाँ पहले से अस्पृश्यता, अपमान-बोध और उच्चवर्ण का दलित-समूहों के प्रति नफरत का भाव भी उन्हें इस्लाम की ओर ले गया। यों ही भक्ति आन्दोलन का नारा नहीं बना—जात-पाँत पूछे नहिं कोई/हरि को भजे सो हरि का होई।

जात-पाँत का यह भेद कैसा था कितना अपमानजनक था, इसे हम महाभारत में एकलव्य और कर्ण के चरित्रों के प्रति किए गए धोखों, अपमानों और दुर्व्यवहारों से समझ सकते हैं। मध्यकाल के समाज में तो यह अपने चरम पतन तक जा पहुँचा था। दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा—'भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएँ थीं उनमें सर्वप्रमुख यही जातिवाद था।' उनके अनुसार बौद्ध और ब्राह्मण कभी भी एकमत नहीं हो सके बल्कि अपने-अपने मौकों पर दोनों इसी कोशिश में रहते कि मुसलमानों के मार्फत एक-दूसरे का सफाया करवा दें।

भक्ति आन्दोलन के पीछे ये सब भी कारण थे। फिर सूफी सन्त किसी मायने में हिन्दू सन्तों की तुलना में कम नहीं थे। उनकी जीवन-शैली, त्याग-तपस्यामय जीवन और मानव-मानव के बीच भाई-चारे, प्रेम और अभेद के सद्विचारों ने भी हिन्दू पिछड़ों दलितों और कतिपय ऊँची जातियों को भी अपनी ओर खींचा। चरित्र में उदार रहकर भी लोक-व्यवहार में विभेद, श्रेष्ठता बोध और कट्टरता ने हिन्दू समाज का बहुत बड़ा नुकसान किया। दिनकर जी ने वीर-विनोद : भाग दो खण्ड एक से एक अंश यह भी उद्धृत किया है जिसमें अकबर राजपूत राजाओं से यह कह रहा है कि अब दूर देश में जाकर तुर्क राजाओं से तो अपना सामाजिक रिश्ता नहीं रख सकते, इसलिए हमारे और आपके बीच रोटी-बेटी का रिश्ता भी प्रारम्भ होना चाहिए। यह वह बादशाह कह रहा है जिसके पुरखों ने इस देश को अपने पौरुष से जीता और जिसके दरबार में

टोडरमल और बीरबल जैसे हिन्दू बौद्धिक सुप्रतिष्ठित थे। अकबर के इस प्रस्ताव पर राजपूतों ने अपनी बेटियाँ देना तो मंजूर किया पर अपने घरों में उनकी बेटियों का होना मंजूर नहीं किया। ये वही राजपूत राजा थे जो अकबर से लेकर औरंगजेब तक के साथ स्वामीभक्ति दिखाई और ऊँचे ओहदे सँभाले। रही बात अकेले राणा प्रताप की तो उनके सगे छोटे भाई अकबर के यहाँ नौकरी में थे। फिर अकबर राजपूतों से चाहता कितना था। इतिहास में जाएँ तो कहना पड़ेगा कि उसने तो किसी भी राजपूत राजा की सत्ता नहीं छीनी, बल्कि एक बड़े साम्राज्य को बनाने के लिए सिर्फ प्रभुसत्ता की माँग उनसे की। यह तो अन्य हिन्दू राजाओं के साथ चाणक्य और चन्दगुप्त भी ईसा पूर्व की शताब्दी में कर चुके थे। राज्य को साम्राज्य बनाने की यह कामना और कोशिश तो प्रत्येक समर्थ राजा करेगा ही।

सवाल यह भी है कि सम्पूर्ण राजपूताना कभी एक क्यों नहीं हो सका? फिर राजनीति केवल देह-पौरुष तो नहीं है। उसे साधने के लिए साम-दाम-दण्ड-भेद सभी प्रकार की नीतियों की जरूरत है। तब यह रास्ता राजपूत क्यों नहीं अपना सके? अलग-अलग रहकर मुगल दरबारों में सर क्यों झुकाते रहे? सर तो झुकता रहा नाक फिर भी ऊँची रही।

भारत का समाज अपने इसी कोढ़ के चलते गुलाम हुआ और होता चला गया। आज भी हम इस रोग से मुक्त नहीं हो पाए हैं। इस पृष्ठभूमि पर अगर हम भारत पर इस्लाम की फतह को देखें तो कारणों को समझने में मदद मिलेगी।

आजादी के सत्तर साल बाद भारत के समाज की स्थिति और भी भयावह है। हमारी राष्ट्रीयता की भावना को आज सबसे बड़ा खतरा जातिवादी राजनीति से तो है ही, संकीर्ण साम्प्रदायिक, अतिवादी और कट्टरतावादी राजनीति से भी है। धार्मिक विद्वेष के चलते समाजों के मन आपस में टूट-बिखर रहे हैं और सत्ताखोर राजनीति इस आग को ठण्डा करने के बजाय इसमें घी डालने पर उतारू है। हमारी राष्ट्रीयता और सामाजिक संस्कृति को इससे बड़ा खतरा है।

इस सन्दर्भ में अगर दो-एक आधुनिक भारतीय विचारकों को देखें तो वे वेदनामय हृदय से यह कहते हुए मिलेंगे कि "हमें अपने अतीत का अध्ययन मिथकों को स्थापित करने या किंवदन्तियों एवं परीकथाओं को यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करने के लिए नहीं, बल्कि गुजरे हुए लोगों, बीते हुए विवादों एवं बरपाए गए जुल्मों से सीखकर भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार होने के लिए करना चाहिए। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज के समय में भारत में कई लोग राष्ट्र-प्रेम और धार्मिक शुद्धता के नाम पर देश के अतीत के बारे में कई गलत तस्वीरों और कथाओं की वकालत करते हुए उन्हें स्थापित करते हैं।...जबकि भारत की जो मूल आत्मा है, इनमें सबसे अहम है बहुलतावादी लोकतन्त्र के प्रति समर्पण।[1] उनके अनुसार यही हमारे संविधान

की मूल मंशा है। न कि सत्तास्वार्थ के लिए अलग-अलग धर्म और जाति समूहों को बाँटकर अपनी घिनौनी रोटियाँ सेंकना चाहिए जबकि कुछ और।

एक और बड़ी दुर्घटना इस बीच जो घटी है वह जन-प्रतिनिधियों के जन-समर्पण के बजाय अपने-अपने दलों और दलीय सत्ता-स्वार्थों के प्रति अन्ध-समर्पण है। शासक और उद्योग-व्यापार वालों की एक राजनीति ही नहीं, एक जैसे ही स्वार्थ-सम्बन्ध बन चुके हैं तब बुद्धिजीवियों और लेखकों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे उच्चतम सामाजिक मूल्यों की न केवल चिन्ता करें बल्कि उनके प्रचार-प्रसार और स्थापन के लिए सांस्कृतिक कार्यकर्ता और अग्रदूत की तरह सामूहिकता में आगे आएँ। भक्ति आन्दोलन अगर कुछ था तो यही था, उसी रूप में। वह अपने समय का क्रान्तिकारी आन्दोलन था।

मुझे मुक्तिबोध का यह सोचना ठीक लगता है कि भक्ति काल की मूलभावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है।... किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम-विरोधी और हिन्दू राजसत्ता के जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते।''[2]

आज जब हम निर्गुणियों और सगुणियों की बात करेंगे तब स्वभावतः हमारे अपने समय के सवालों को भी ध्यान में रखना होगा। वह तो निर्विवाद है कि शुक्ल जी के क्षात्र धर्म की सारी कुंजों तुलसी के मानस में है। वर्ण-व्यवस्था का सौन्दर्य शायद हो भी पर निर्गुणियों के यहाँ जो नव-सामाजिक सम्मिलन है, दो भिन्न जातियों की एकता का सन्देश है, प्रेम तत्त्व के आधार पर जिस मानव-गरिमा का वैभव है, वह हमारे इस बीमार समय के लिए सचमुच जहर-मोहरे की तरह है। व्यावहारिक जीवन में भी सगुण-पन्थ सामान्य आबादी के लिए चाहे जितना सुविधाप्रद हो किन्तु अपनी व्यापकता और संकीर्ण सामाजिक जीवन-व्यवहारों का अतिक्रमण कर जाने वाले निर्गुण की सत्ता धर्म की संकीर्ण साम्प्रदायिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। यहाँ पहुँचकर कहना आसान हो उठता है कि निर्गुण के चलते ही हिन्दू-मुसलमान दोनों ही कबीर और बाबा फरीद तक आए। सगुण की सीमाओं के चलते सूर और तुलसी उस सीमा तक पहुँच नहीं हो सके। हाँ! अपने दायरे में ये बड़े प्रतिभा-धर थे। इनकी साधना तो शायद अपनी सिद्धियों तक भी पहुँची हो पर इनका काव्य तो लोक-जीवन की सामान्य चेतना के लिए पारसमणि का ही काम करता रहा। विनय और समर्पण की पराकाष्ठा ने इन्हें जो गरिमा प्रदान की वह लोक सामान्य से अभिजन-समाजों तक अपना प्रकाश फैलाता रहा।

जायसी की स्थिति इन तीनों से भिन्न है। कबीरदास के बारे में तो हम आज भी बहस-तलब हैं कि वे कितने हिन्दू और कितने जुलाहे थे। प्रचलित किंवदन्तियाँ तो यही हैं कबीर तो विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से जन्म लेकर नीरू नामक जुलाहे द्वारा पाले-पोसे और प्रशिक्षित थे। वे बनारसी साड़ी बुनते थे या फिर चादरें और गमछे...

कहा नहीं जा सकता। चादरों का जिक्र तो वे झीनी-बीनी चदरिया में खुद ही करते हैं।

जायसी के एक शोधकर्ता डॉ. कन्हैया सिंह के अनुसार जायसी अवध के राय बरेली जिले के अधीन जायस[1] नामक स्थान के एक सामान्य गृहस्थ किसान थे। तब भी कबीर की तुलना में उनका शास्त्र-ज्ञान ज्यादा था। कबीर की अक्खड़ता, विधि-विरोध, आदि की तुलना में बकौल जायसी आचार्य शुक्ल ''विधि पर'' पूरी आस्था रखते थे। वेद, पुराण और कुरान आदि को लोक-कल्याण मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन मानते थे।[2]

राघव पूज जाखिनो दुइज देखा एसि साँझ
वेद पन्थ जे नहिं चलाहें तो भूलाहें बन माँझ
झूठ बोल फिर रहै न साँचा।
पण्डित सोइ जो वेदमत बाँचा।।
वेद वचन मुख साँच जो कहा।
सो जुग जुग अहथिर होई रहा।।

शुक्ल जी का जायसी को लेकर यह अभिमत, केवल जायसी नहीं स्वयं उनकी अपनी लोक-दृष्टि की भी पहचान कराता है। स्थापित एवं सुप्रतिष्ठित अभिजन-पण्डितों के प्रति हमें क्या रवैया अपनाना चाहिए इसका संकेत भी शुक्ल जी कर ही रहे हैं। पर इस बात के सन्दर्भ में मुझे 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा मुक्तिबोध का वाक्य याद आ रहा—कि ऐसा नहीं कि हमारे मन में श्रद्धा नहीं है, सच तो यह कि हमारे बुजुर्ग ही श्रद्धेय नहीं रहे। परम्परा की दुर्व्याख्याएँ और आचरणों का दोमुँहापन उच्चतम मानव-मूल्यों के प्रति भी हमारी अवस्था जगाता है। संस्कृति के इतिहास में यह बार-बार होता रहा है। कबीर अगर अपने कई वचनों में आक्रमण हो उठे थे तो कारण यही थे।

जायसी का जो काव्य धरोहर के रूप में हमारे पास है, उसकी लिपि फारसी, जुबान अवधी, दर्शन सूफी और आख्यान हिन्दू राजशाही परिवार की एक प्रेम-कथा है। फारसी तथा अन्य सह-भाषाओं में जो सूफी कविता लिखी गई है वह तो बेहद कर्म-काण्ड-निन्दक और विरोधी है। उदाहरण के लिए—ईसवी एक हजार सत्तावन में दिवंगत महान सूफी दार्शनिक कवि अबुल आला मअर्री की ये कुछ अनूदित पंक्तियाँ—

मस्जिद में इबादत करना छोड़ो और
और आलस्यपूर्ण नमाज से
मेमने को हलाल करने से बचो
क्योंकि नियति नींद का पात्र या प्रायश्चित का पात्र लाएगी
जिसका तुम पान करोगे
.....

अल्लाह को छोड़कर कोई ईश्वर नहीं है यह सच है
न ही कोई पैगम्बर है, सिवा मनुष्य के मस्तिष्क के
जो अन्धकार से होकर भटकता है
उस स्वर्ग को पाने के लिए जो मुझमें और तुझमें है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. तारा चन्द ने इसे 'दीवान ऑफ अबुल आरा' से लिया है। उनके अनुसार यह अनुवाद अनुवादक हेनरी बेरलीन का है। अनुवादक बेरलीन के हवाले से वे यह भी कहते हैं कि—'वह केवल उस जमाने की राजनीति और धर्म से ही दुःखी नहीं था। बल्कि उसका चिन्तन अत्यन्त गहन था। उस पर बुद्ध का प्रभाव भी था।'[1]

पैगम्बर तक को नकारने वाला यह सूफी कवि ईश्वर सत्य और अपने बीच किसी अन्य को स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि पैगम्बर को भी। जायसी तो शास्त्र-विधि-व्यवस्था को सविनय प्रणाम करते हुए पण्डितों आदि के प्रति विनयशील दिखते हैं। उनमें अगर किसी एक बात को लेकर आत्मगौरव और आत्मसजगता का भाव तो है वह उनकी कविता है।

एक नैन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमोहा जेइं कवि सुनी।
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा।।

इसमें आत्मप्रशंसा का भाव भी खूब है। एक ही आँख है तो तारा कविता तो उसकी विमुग्धकारी है। कवियों में उसका आसन तारों के बीच चाँद जैसा है। एक आँख का काना होना वैसा ही है जैसे चन्द्रमा के सौन्दर्य में कलंक का होना है। मैं काव्य-चन्द्र हूँ।

मैं समझता हूँ यह आत्मविश्वास तो किसी कवि में होना ही चाहिए। लेकिन मनुष्य-मात्र में भी क्यों नहीं? जायसी अपने इन बयानों से भरे-पूरे आदमी लगते हैं। 'पद्मावत' पढ़ते हुए बार-बार इस एहसास से हम गुजरते हैं कि कवि ने अपने यौवन और सौन्दर्य को एक भोक्ता की तरह देखा और अनुभव किया है। उनको भौतिक या कहें लौकिक संवेदनाएँ बेहद गहरी और रूप-रस के गन्ध से भरी हुई हैं। वो जो एक उनकी अर्धांगिनी है—'जग सूझा एकइ नैनाहा' वह इसी की स्वीकृति है। मुझे तो इस पंक्ति में जायसी की व्यंजना बहुत दूर तक ले जाती है। दुनिया में ऐसे दो-आँखवाले भी होते ही हैं जिन्हें बहुत नहीं सूझता है दो आँख होते हुए भी। अगर जायसी की दोनों होतीं तो वे न जाने क्या कर डालते। फिर कवि की हमेशा एक खास आँख तो उसकी संवेदना की होती है। वे अगर सामान्य नहीं, असाधारण महा-काव्य रच सके तो कारण उनकी यही संवेदना है।

स्तुति खण्ड के इसी इक्कीसवें बन्ध में वे अपने कतिपय काव्य-रहस्यों को खोलते भी हैं। उनके कथनों को देखते हुए यह तो मान लेना पड़ेगा कि उन्हें यह पीड़ा

तो सालती ही थी कि वे एक ही आँख के व्यक्ति हैं। पर इस न्यूनता के अभाव को पूर्णता के सौन्दर्य में रूपान्तरित करते हुए वे कहते हैं कि आम में 'डाभ' अगर न हो तो उसमें सुगन्धि और मिठास कहाँ से आएगी। यानी जीवन में थोड़ी-बहुत अपूर्णताएँ ही कालान्तर में व्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास और पौरुष-साधना से सम्पन्नताओं के सौन्दर्य में रूपान्तरित हो उठती हैं—

एक नैन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेइं कवि सुनी।
चाँद जइस जग विधि औतारा। दिन्ह कलंक कीन्ह उनियारा।।

यहाँ वे कहते हैं मेरी कविता विमुग्धकारी है। कवियों में मेरे कवि का आसन तारों के बीच चन्द्रमा जैसा है। इतना ही क्यों, यह कविता पाठकों पर अपना गहरा असर भी छोड़ती है। इसका एक प्रमाण तो यही कि मध्यकाल में हिन्दी कविता की 'त्रिवेणी' बनाते हुए शुक्ल जी जिन तीन कवियों को चुनते हैं, उनमें सूर, तुलसी के अलावा तीसरे कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं कि चाहते तो केशव और बिहारी में से किसी एक को ले सकते थे पर उन्होंने तीन ऐसे कवियों को चुना जिनकी सुदृढ़ दार्शनिक-वैचारिक पृष्ठभूमि थी। तीनों सम्प्रदाय-विशेष की तीन पृथक् साधना भूमियों से जुड़े हुए भी थे। सच यह भी है कि वे सूर की जगह कबीर जैसे महान सन्त को भी ले सकते थे, और उनके जैसे बड़े आलोचक के लिए यह अधिक न्यायोचित भी होता, पर वे कबीर के काव्य-व्यवहारों को लेकर जितने चिढ़े हुए हैं और धार्मिक कर्म काण्डों के पाखण्डों को लेकर कबीर जिस कदर हमलावर थे, वह शुक्ल जी के नव अभिजात ब्राह्मणवाद के लिए न केवल सर्वथा अरुचि कारक था, बल्कि क्षात्रधर्म वाली वर्ण-संरचना के भी सर्वथा विरुद्ध था।

शुक्ल जी कबीर की इस बात पर भी चिढ़े हुए थे कि उन्होंने साधना का एक और नया पन्थ क्यों खड़ा कर दिया? जायसी की तरह पहले से ही चले आ रहे वेद या कुरान मार्ग पर ही क्यों नहीं चले। क्या यह किसी आलोचक का काम है, इस तरह की ज्यादती करना—कवि या लेखक के साथ? पर कबीर के सन्दर्भ में तो वे जैसे अवसर खोजते रहते हैं। 'त्रिवेणी' में कबीर के लिए तब गुंजाइशें ही कहाँ बचती हैं?

शुक्ल जी द्वारा जायसी की जो खूबियाँ गिनाई गई हैं उनके पीछे सामाजिक सम्मेलन का सौन्दर्य है। वे बार-बार कहते हैं कि उससे हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को न केवल समझने पर उतारू हुए बल्कि एक-दूसरे को आदर और प्यार करने की भी कोशिशें करने लगे। इसीलिए तो सूर-तुलसी के साथ सूफी कवि जायसी को शामिल कर वे मध्ययुगीन हिन्दी कविता की 'त्रिवेणी' रचते हैं। वैसे भी शुक्ल जी का आलोचक लोकहित की दृष्टि से आख्यानक प्रबन्ध-काव्यों का समर्थक है। 'पद्मावत' के प्रबन्ध-सौन्दर्य पर उन्होंने मुग्ध होकर लिखा भी है।

इस सन्दर्भ में मेरे मन में जो अन्य सवाल उठ रहे हैं, वे ये हैं कि कविता और धार्मिक सम्प्रदाय विशेष का जो रिश्ता मध्ययुग में तत्कालीन जरूरतों की दृष्टि से रचा

गया है, उसमें प्रायः सभी बड़े कवि शामिल हैं। पर इस रिश्ते की जो मर्यादाएँ रची गई हैं, उसकी खूबसूरती केवल सूर के वात्सल्य और जायसी के लोकजीवन चित्रण में ही प्रकट हो सकी हैं। इसके विपरीत अष्टछाप के नन्ददास आदि कवियों में सम्प्रदाय-विशेष की गन्ध अधिक है।

प्रश्न यह कि कविता की सार्वभौमिकता क्या इससे अधिक नहीं होती? प्रबन्ध-काव्य में तो खैर इसकी गुंजाइशें बची भी रहती हैं और तुलसी जैसे बड़े सुजान कवियों में यह बची भी हुई है, पर एक हद तक यही कारण है कि भागवत के कथाकारों की तरह मानस के भी प्रवचनकार और कथाकार न केवल बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ अर्जित कर रहे हैं बल्कि आगे बढ़ते समाजों के मानस पर कब्जा जमाए भी बैठे हैं। यह अलग बात है कि एक बड़े परम्परागत, इससे कहीं अधिक दकियानूसी समाज की रोजी-रोटी भी चल रही है।

सवाल यह कि इससे तुलसी की कविता का हित कितना सध रहा है? क्या वह कविता लोक में राम जैसे चरित्रों को पैदा कर पा रही है? स्वयं मानस-प्रवचनकारों के अपने परिवारों में क्या मानस के मूल्य स्थापित हो पाए हैं?

जायसी की स्थिति तो और अलग है। उनका पठन-पाठन तो कक्षाओं और अध्यापक आलोचकों के अलावा अन्य की जरूरत कभी बन नहीं पाता। शायद यही लक्ष्य कर आलोचक विजय देव नारायण साही ने उन्हें सम्प्रदाय-विशेष से जोड़े न जाने की भरपूर वकालत की है। वे लिखते हैं—''साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गम्भीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।''[1] इसी पृष्ठभूमि पर वे 'जायसी' का उद्धार जैसा करते हुए उन्हें 'कवि और केवल कवि' मानते हैं।[2] इसी के पहले वाले पृष्ठ बासठ पर वे लिखते हैं—''जायसी का प्रस्थान-बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है।'' पर केवल ऐसा ही नहीं है। हम पाते हैं कि पद्मावत का स्तुति-खण्ड पढ़ते हुए। वे अपने कवि को जिस ऊर्जा भूमि पर ले जाकर स्थापित करते हैं वैसा तो तुलसी भी नहीं करते। सामान्य दृष्टि से देखें तो यह एक प्रकार से अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने वाली बात साबित होगी पर ये कथन जिस प्रसंग में हैं, उसके मूल में जायसी के कवि की कुरूपता और एक आँख का काना होना भी है। गाँव-देश में इसकी अनुभूति उन्हें हुई भी होगी। पर इस अंग और रूप-क्षति की पूर्ति वे अपनी कविता की रसमयता से करते हैं। शुक्ल जी के अनुसार मानस-रचना से चौंतीस साल पहले जायसी 'पद्मावत' रचते हैं। इसलिए उनके समक्ष बराबरी का कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है। फिर वे अतिशयोक्ति को कला के खूबसूरत आवरण में छिपाते हुए दोहे में लिखते हैं—

एक नैन जस दर्पन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवन्त पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ।।1।21।।

एक ही आँख है तो क्या, उसके दृष्टि-प्रचार में समूची सृष्टि जिस तरह रूप-उजागर हो सकी है वह तो वे भी नहीं कर पाए जिनकी दोनों आँखें हैं और भरोसा न हो तो आइए और देख लीजिए। अपने को रूपवन्त मानने वाले लोग तो मेरा पाँव पकड़ मेरे मुँह से निकलने वाले रस भीने बोलों की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

इसमें जायसी का अपना मनोविज्ञान भी काम कर रहा है। खूबसूरत आत्मबोध भी ।

जायसी के 'पद्मावत' में जो बात मुझे खींचती है वह है उनका लोक-जीवन का गहरा मर्मवेधी चित्रण, जैसा तुलसी में भी नहीं है। उसमें भी अवध का जीवन्त किसानी जीवन। तुलसी ने तो यह सब जरूरत भर किया है। पर जायसी उसे एक प्रधान जीवनानुभूति के रूप में व्यक्त करते हैं। इसीलिए वे षड्ऋतु वर्णन के साथ-साथ लोक की 'बारहमासा' वाली परम्परा को भी स्थान देते हैं।

एक बात जिस पर हमारा ध्यान बार-बार जाता है वह है जायसी के अनुभवों की प्रामाणिक स्थानीयता या देशीयता। फिराक गोरखपुरी ने उर्दू शायरी के बारे में जो तीखी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं उनमें सबसे खास बात यह कि ''हजारों साल से जिन्दा रहने वाली भारतीय सभ्यता से उर्दू शायरी बहुत कम आत्मीयता स्थापित कर सकी है...उर्दू शायरी हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं की तुलना में पराएपन और अजनबियत का अहसास मेरे अन्दर उभार देती थी।...मुझे उर्दू शायरी में वह सन्तोष, वह शान्ति, वह अमृत, और जिन्दगी के आँसू पोंछने वाले वे हाथ और हमारे अन्दर आत्मज्ञान पैदा करने वाली वह आवाज नहीं मिलती थी जो उर्दू को छोड़कर सारी हिन्दुस्तानी शायरी में हमें मिलती है।''

एक अन्य बातचीत में उन्होंने कहा है कि उर्दू में एक भी शकुन्तला, सीता या राधा क्यों नहीं है? तब वह हिन्दुस्तान की चेतना की भाषा बन कैसे सकती है?

जायसी के सन्दर्भ में मुझे यह बात खास लगती है कि सूफी कवि होकर भी वे मक्का-मदीना के खयालों में डूबे नहीं रहते। हिन्दुस्तानी जीवन और उसकी माटी की सुगन्ध में उनकी चेतना इतनी रच-पच और रस-बस गई है कि हमारा मन बार-बार इस देश की चेतना और माटी की सुगन्धों से भर उठता है। कुछ वैसा ही बोध जैसा किसी को 'मेघदूत' (कालिदास) पढ़ते हुए होता है। जिस कविता में यह न हो, वह अगर भाषा की कविता होने का दावा करे तो उसकी यह दावेदारी मानेगा कौन?

जायसी चाहे ग्राम जीवन के वर्णनों में उतरते हों चाहे शहरी जीवन के अनुभवों में—वे हमें हर जगह भरोसे के कवि लगते हैं। उनकी निगाह न तो कभी फिसलती है, न भटकती ही है। हिन्दू रीति-रिवाजों, संस्कारों, देखने और सोचने के तरीकों से लेकर कहने तक पर हमें लोक-जीवन का सच्चा प्रतिबिम्बन मिलता है। यहाँ तक कि उनके

रहस्यात्मक कथनों तक में यह सौन्दर्य देखा जा सकता है। सिंहल द्वीप-वर्णन खण्ड में पद्मिनी स्त्रियों के सौन्दर्य के जो अक्स उन्होंने खींचे हैं वे हमें विद्यापति की अपूर्व सुन्दरियों की याद दिलाते हैं। ये कल्पनाएँ निश्चय ही पारम्परिक हैं। कहें शास्त्रीय हैं। उनकी कमर सिंहनी की भाँति, नेत्र मृग की भाँति, गति हंस की भाँति और वाणी कोयल जैसी है। उनके मेघमाला जैसे काले केश सिर से पैर तक लहराते हैं और दन्त पंक्ति बिजली-सी चमकती हैं—

लंक सिंघनी सारंग नैनी।
हंस गामिनी कोकिल बैनी।।
केस मेधवारी सिर ता।
चमकहिं दसन बीजु की नाईं।।

इस सन्दर्भ में डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल की टिप्पणी भी है उनकी संजीवनी व्याख्या में—'स्त्रियों के ये चार विशेषण जायसी की संस्कृत पदावली के परिचायक हैं।' याद करें तो 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में प्रसाद भी इसी जाति के उपमानों के आस-पास किंचित अभिनव-संयोजन के साथ दिखते हैं—'आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम/बीच जब घिरते हों घनश्याम/' आगे भी वे इसी तरह की एक उपमा लेते हैं—'नील घन-शावक'। जायसी उन्हें घनश्याम अथवा 'घनशावक' के बदले मेघमाला ही कहते हैं। इससे यह तो संकेत मिलता ही है कि जायसी काफी पढ़े-लिखे थे, कवियों और काव्य-रसिकों की मण्डली में उठते-बैठते थे, साथ ही संस्कृत काव्य-परम्पराओं के बारे में जानते थे। यहाँ तक कि अवध-अंचल की कहावतों और मुहावरों तक पर उनकी जबरदस्त पकड़ और सिद्धि थी।

रहस्यात्मक उक्तियों को भी उन्होंने अपने शब्द-प्रयोगों से खूब जाहिर कर दिया है। पद्मावती जन्म नहीं लेती अवतरित होती है—

भए दसमास पूरि भै घरी।
पदुमावति कन्या औतरी।।
.....
भा निसि माँह दिन क परगासू।
सब उजियार भयउ कविलासू।।

आदि-आदि। आलंकारिक दृष्टि से इसे अतिशयोक्ति भी कहा जा सकता है किन्तु इसी में तो रहस्यात्मक संकेत भी झाँक रहे हैं। एक बात जरूर कही जा सकती है कि जायसी ने इन नागर वर्णनों में शास्त्रीयता का सहारा ही ज्यादा लिया है।

जायसी के कवि को विशिष्टता और अद्वितीयता उनके लोक-जीवन के वर्णनों में हैं। वहाँ तो वे सचमुच वही हैं जैसा कि उन्हें होना चाहिए। इसकी सिद्धि उन्हें नागमती के विरह-वर्णन में मिलती है। अवध के एक गाँव में जन्म लेने और बचपन

के पूरे वर्ष वहीं गुजारने के चलते मैं अब जब कभी जायसी के इन वर्णनों से होकर गुजरता हूँ, मुग्ध तो होता ही हूँ, चमत्कृत भी कम नहीं होता। इसके पहले षटऋतु वर्णन भी कवि ने किया है जिसका सम्बन्ध पद्मावती से है। इसमें जो खास बात है वह यह कि रत्नसेन जैसे जोगी ने वीर और शृंगार दोनों ही रसों पर नियन्त्रण कर लिया है। सवाल यह उठता है कि तब पद्मावती के लिए आने और इतनी जहमत मोल लेने की जरूरत क्या? पर नहीं। यहीं तो जायसी का सूफी रहस्यवाद है। सूफी वही है जिसने अपनी तमाम भौतिक इच्छाओं (रागों) पर विजय प्राप्त कर ली है और जो परमात्मा (खुदा) के रंग में रँगकर उन्हीं को समर्पित हो चुका है। तभी तो वह 'फकीर' या 'दरवेश' है। या फिर ठेठ हिन्दुस्तानी अर्थ में जोगी। यानी योगी। जिसने तमाम चित्त-वृत्तियों को जीत लिया और जिसका स्वयं पर पूर्ण नियन्त्रण है। यही तो—योग-दर्शन है पतंजलि का।

नागमती वाले वर्णन में जायसी बारहमासे की लोक शैली अपनाते हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे अधिक सूक्ष्म विवरणों और व्यापक जानकारियों की अपनी दक्षता और गति का प्रमाण भी देना चाहते हैं। इसी से लगता है कि वे साधारण कवि नहीं हैं। प्रबन्ध-रचना की महिमा और गौरव से वे बखूबी परिचित हैं। फिर उनके पास एक लोकसिद्ध भाषा-दृष्टि भी है। षट्ऋतु वर्णन की शुरुआत वे बसन्त ऋतु और शृंगार-वर्णन से करते हैं। इसका कारण पद्मावती के सौन्दर्य का प्रकाशन है। पर नागमती वियोग को ये असाढ़ से शुरू करते हैं—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा।
साजा बिरह छुद दल बाजा।।

यों कालिदास भी अपने मेघदूत की शुरुआत लगभग इसी तरह के बिम्बों से करते हैं—आषाढस्य प्रथम दिवसे...आदि। तथापि जायसी का कथन एकदम लोक मुहावरे के संगीत से गूँज रहा है। जायसी को पढ़ते हुए यहाँ उन रीति कवियों की भी याद आती है जिनमें बिहारी आदि हैं। विरहिणी नायिकाओं का वर्णन करते हुए वे भी उनकी क्षीणता को अतिशयोक्तियों तक ले जाते हैं—इत आवत चलि जात उत...। जायसी उनसे पहले लिख चुके हैं कि विरह ने नागमती को इतना क्षीण कर दिया है कि—'खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनाहे जाइ सब होइ निरासा।' यहाँ केवल उक्ति-चमत्कार वाली अहा नहीं है, व्याकुल कर डालने वाली मार्मिक विदग्धता भी है। इन चौपाइयों को पढ़ते हुए यह भी जानकारी मिलती है कि जायसी को किसानी जीवन और उसके मौसम-विज्ञान, ज्योतिष आदि की भी गहरी जानकारी है। यह बहुविध ज्ञान उनके पास खूब है। एक-एक नक्षत्र तक की उनकी जानकारी है। तभी तो वे एक साथ वियोग-वर्णन, माह वर्णन, नक्षत्र-विशेष आदि को साध सके हैं—

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जस ओरी।
पुरबा लागि पुहुम जल पूरी। आक जवास भईं लैं झूरी।।

यहाँ ओरी और झूरी पर विशेष ध्यान जाता है। अवधी में सूख जाने को 'झुरोय जाना' कहते हैं। हालाँकि सूखी जमीन को भी यही कहते हैं। गीले कपड़ों के सूख जाने को भी।

इन वर्णनों में जायसी की सूक्ष्मता का सौन्दर्य हमें बार-बार चमत्कृत करता है। विवरणों को वे विस्तार में ले जाकर राई-रत्ती या फिर माइक्रो-स्तर तक पहुँचाते हैं। इससे उनको लोक और शास्त्र सम्बन्धी अभिज्ञता का प्रमाण मिलता है। एक प्रबन्ध कवि या कथाकार की यह समर्थता ही उसे उस विशाल जन-समूह तक पहुँचाती है जिससे लोक में संवेदना के सौन्दर्य का प्रसार होता है।

आज यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि दोहा-चौपाई में लिखकर भी तुलसी लोक-हृदय के सम्राट बने हुए हैं तब जायसी जिन्होंने उनसे चौंतीस वर्ष वर्ष पहले 'पद्मावत' रचा उसी जन-समूह से इतनी दूर, एक हद तक पराये से क्यों पड़े हैं?

संदर्भ

1. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध-रहस्यवाद पृ. 47.
2. द सेन्स ऑफ सूफीइज्म-जॉन बाल डाक, पृ. 61.
3. अहा! जिन्दगी-सुनील खिलवानी का साक्षात्कार, पृ. 16-18
4. (चर्चित पुस्तक 'भारत नामा'—राजकमल प्रकाशन-के लेखक)
5. जायस अब अमेठी जिले में आ गया। अमेठी पहले सुल्तानपुर की तहसील था।
6. कबीर विधि विरोधी थे और वे विधि पर आस्था रखने वाले, लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे।...अपने को सर्वज्ञ मानकर पण्डितों और विद्वानों की निन्दा और उपहास करने की प्रवृत्ति उनमें (यानी जायसी में) नहीं थी। जायसी ग्रन्थावली की भूमिका।
7. भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, पृ., 66
8. जायसी, पृ. 67, विजय देव नारायण साही
9. वही, पृ. 63, वही
10. फिराक गोरखपुरी-गुफ्तगू, पृ. 19, वार्ताकार सुमत प्रकाश 'शौक'

आंचलिकता की सोंधी महक

डॉ. सुभद्रा राठौर*

'आत्मकथा' एक रोचक विधा है। पाठक किसी रचना के प्रति संशय पाल सकता है, वह अच्छी होगी या नहीं? पढ़ा जाए अथवा नहीं? किन्तु आत्मकथा चुम्बक है, सहज ही आकृष्ट करने की क्षमता से भरपूर! यहाँ पाठकीय मंशा महज दूसरों की खिड़की के पार झाँकने की नहीं होती, अपनी अस्मिता की तलाश भी होती है। लेखक डॉ. रामनिवास ने कहा है "हर व्यक्ति का जीवन एक कहानी है...।" जीवन सपाट, मैदानी भाग में प्रवाहित होती शान्त धारा कहाँ? वहाँ उद्गम के उछाल से लेकर, शिलाओं से होनेवाली कठोर मुठभेड़, उत्थान-पतन और शान्त-अशान्त प्रवाहों के मध्य महामिलन भी है। अनिश्चितताओं और विविधताओं से अटे पड़े प्रत्येक जीवन में अपना ही सौन्दर्य है, सन्देश है।

मुँह में सोने का चम्मच लेकर पैदा होना हर व्यक्ति का सौभाग्य नहीं होता, उसमें प्रेरणा के तत्त्व भी नहीं होते। ऐसे में कितना अच्छा हो कि एक संघर्षशील व्यक्तित्व सामने हो, अभावों ने ही उसे अमृतपान कराया हो और बड़ी बात यह कि बिना किसी हिचक-झिझक, बेलाग वह अपने जीवन के स्याह हिस्से दुनिया के सामने बेपर्दा करता हो। आत्मकथा का लेखन जितना सरल है उतना ही कठिन भी, चुनौतियों से भरा। आपकी स्मृति कितनी तेज है? नीयत कितनी सही है? साझा करने की हिम्मत कहाँ तक है? महात्मा गाँधी जैसा साहस कर सकेंगे? या अच्छा-अच्छा गप, कड़वा-कड़वा थू? डॉ. रामनिवास उस कसौटी में कहाँ तक खरे उतरे? उसकी जानकारी या तो उन्हें स्वयं होगी अथवा उन पाठकों को, जो कथा की भूमि से सम्बद्ध हैं। बहरहाल उन्हें बधाई कि उन्होंने जोखिम भरा कदम उठाया है और सन्देह नहीं उनके लेखन से रसिक पाठकों को कुछ मोती तो अवश्य मिलेंगे, प्रकाश की नन्हीं-नन्हीं कनिकाएँ भी। जीवन-मार्ग के कुहासों पर एक हलकी-सी दस्तक सही!

डॉ. सुभद्रा राठौर, बी-81, वी.आई.पी. एस्टेट खम्हारडीह, पो. ऑ. सड्डू, रायपुर 492091 (छ.ग), सं. 9425525248

'मुझे कुछ कहना है' लेखक के अन्तर्मन में बसे बाल्य-दृश्यों का संकुल है। लेखकीय स्मृति-क्षमता की दाद देनी पड़ेगी अथवा वे परिस्थितियाँ ही इतनी कसैली थीं, जिनकी कसक हृदय से जाती नहीं। शायद उनका ही विरेचन स्थल यह कृति बन गई हो। संघर्षों से भरा, अभाव से जूझता बचपन, जहाँ अनुपस्थिति ममतामयी माता की भी रही, लेखक को निरन्तर टीसता है। मानव-मन सदैव तुलनापरक होता है। दुःख के दिन हों तो सुखद अतीत और सुख के दिन हों तो दुःखद अतीत की स्मृतियाँ तुलाओं पर चढ़ती ही रहती हैं। यह मन की अपनी फितरत है, वह गाहे-बगाहे लौट-लौटकर पीछे नज़र फेर ही लिया करता है। लेखक व्यतीत बाल्यावस्था की तुलना में काफी अच्छी दशा में है, फिर भी बीते दिनों का वह मुक्तांगन उसे बार-बार आमन्त्रण भेजता है। आमन्त्रण ठुकराने का प्रश्न कहाँ? उस भूमि में मानसिक विचरण का फल जख्मों के फिर से हरे हो जाने में मिलता है, किन्तु 'मीठे दर्द' की अनुभूति से बचाव का आग्रह कहाँ? वह तो दवा है, कड़वी दवा, जिसकी एक-एक घूँट रचनाकार को 'स्वस्थ' बनाती है, विचलित नहीं होने देती। प्रेरित करती है, लगातार बीहड़ों के पार निकलने को पलायन नहीं, सघर्ष! सबका अपना-अपना कर्मक्षेत्र है, अपनी-अपनी रणभूमि। आप ही कृष्ण, आप ही अर्जुन।

क्या है इस आत्मकथात्मक प्रस्तुति में? क्यों पढ़ा जाए इसे? ध्यान रहे कि यह किसी महापुरुष की आत्मगाथा नहीं, वे तो 'यूनीक' हो जाया करते हैं। इसलिए ही सर्वग्राही होने में भी असहज। 'मुझे कुछ कहना है' आमजन का भूगोल है, यह किसी का भी हो सकता है। हमारे इर्द-गिर्द, इधर-उधर, कहीं भी! कृषक और गो संस्कृति के भीतर भारत देश का गरीब बचपन, ठीक-ठाक तुलसी की भाँति, जिसने कभी चार चने को जीवन के चार लक्ष्यों जैसा दुर्लभ मान लिया था। लेखक ने अपनी आत्मकथा को पाँच खंडों में लाने की योजना बनाई है। प्रस्तुत प्रथम खंड बाल्यकालीन स्मृतियों का लेखा-जोखा है। इन दिनों ग्राम्य संस्कृति लुप्तप्राय है। ग्राम से शहर की ओर होता पलायन पुरानी बात हो चुकी, अब तो शहर ही गाँवों में घुस गए हैं। ऐसे में यादों में बसे ग्रामों को पढ़ना-देखना-महसूसना रुचिकर लगता है। यहाँ आपको ढेरों चीजें एक साथ मिलेंगी; ग्राम का समग्र, एक ही जगह। कृति में लेखक अपनी बाल्यावस्था को संजोता है, वह मूलकथ्य तो है ही, किन्तु साथ ही तत्कालीन ग्राम और सामाजिक तानों-बानों के साथ सम्पूर्ण परिवेश के वर्णन-विश्लेषण भी उनके पाथेय हैं। ग्राम्य जीवन, रहन-सहन, खान-पान, बोली-भाषा, मेले, लोक-पर्व, लोकपरम्पराएँ, विश्वास-अंधविश्वास, बलिप्रथा, आंचलिक विवाह, बेमेल विवाह, लोकगीत, लोककथा, ग्रामों की बसाहट का भौगोलिक-ऐतिहासिक-सामाजिक वर्णन, ग्राम्य नामों की व्याख्या, सम्बोधन, ग्रामीणों के ईर्ष्या-द्वेष, उठा-पटक, भाव-अभाव, अशिक्षा, शोषण-दलन, राम एवं श्रीकृष्ण लीलाएँ, बालसुलभ जिज्ञासाएँ एवं क्रीड़ाएँ, जेवर के प्रति स्त्री का प्रेम,

स्त्रियों का अनथक परिश्रमी गार्हस्थ जीवन, आत्महत्या और पलायन जैसे तमाम दृश्य यत्र-तत्र सर्वत्र कृति में उभरते हैं। स्मृतियाँ अवश्य बाल्यकाल की हैं, किन्तु उन्हें देखने का नजरिया परिपक्व है, बाल्यावस्था में लेखक को यदि अभाव झेलने पड़े, दर-दर भटकना पड़ा, कारण कहीं और नहीं। इसी समाज में उसके बीज हैं, जिसे हम आज 'सिस्टम' कहकर कोसते हैं। पूँजीपति और पूँजीहीन वर्ग की खाई, संघर्ष, शोषण और विद्रूपताएँ मानो स्थायी तत्त्व हैं।

रचना में कहीं-कहीं काल्पनिकता अथवा अतिरंजकता का भास मिलता है जो रोचकता का आग्रह हो सकता है। इससे मूलकथ्य में कोई खास फर्क भी नहीं पड़ता। कुछ अंश विशेषतः आकर्षित करते हैं। ग्रामों की बसाहट का ब्यौरा देते वक्त जब लेखक उन्हें 'च' या 'ा' आकार में वर्णित करता है, एकबारगी गाँव चाक्षुष हो उठते हैं। लेखक का सामाजिक-भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान प्रभावित करता है। माता की आकस्मिक मृत्यु और उससे बिछुड़ने के दृश्य बेहद मार्मिक बन पड़े हैं। नन्हीं उमर में माँ से विलग होते बालक के हृदय में कैसा शून्य उभरता है, उसका चित्रण सटीकता से किया गया है। एक बात और, 'गँवार' शब्द की उत्पत्ति 'गाँव' से हुई। इसका मूल अर्थ है गाँव का वासी, जैसे नगर का वासी नागरिक वैसे ही गाँव का वासी गँवार। चूँकि ग्रामीण भोला-भाला, अनपढ़, सीधा-सादा होता था, कालान्तर में 'गँवार' शब्द 'मूर्खता' का पर्याय हो गया। गँवार अर्थात् मूर्ख, भोला-भाला, अशिक्षित, अज्ञानी। किन्तु मजे की बात यह है कि इस अर्थ में ग्रामीण 'गँवार' तो बिल्कुल ही नहीं होता, उसके अपने चिन्तन हैं, ज्ञान है, स्वार्थ हैं, उसके लिए बरती जाने वाली सजगताएँ हैं, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, उठा-पटक, मार-धाड़ सब कुछ है। हम उन्हें 'निपट गँवार' न समझें। भाई का भाई के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति और इसी तरह तमाम रिश्ते-नातों में बरता जाने वाला 'प्रैक्टिकल' रूप इस कृति में आप स्वयं देखिए।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' से प्रारम्भ हुई आंचलिकता आज पुनः क्षीण हो गई है। समस्या चूँकि यह कि अंचल भी तो वैश्विक संस्कृति की चपेट में है, फिर भी जितना कुछ शेष है, उस पर तो दुलार भरी नजर फेर ही लेनी चाहिए। 'मुझे कुछ कहना है' को पढ़ने का सुख इसलिए भी है कि इसमें अंचल झाँकता है, संस्कृति का ग्राम्य रूप मिट्टी की महक दे जाता है। कार्य-क्षेत्र छत्तीसगढ़ है, अतः लेखक ने आत्मकथा के लिए हिन्दी के साथ छत्तीसगढ़ी को माध्यम रूप में चुना है। संवाद शैली में अभिव्यक्त छत्तीसगढ़ी सहजता का पुट भरता है। इसके अलावा समस्त लेखन में छत्तीसगढ़ी के शब्दों का लेखक ने अकृत्रिम उपयोग किया है। अंगाकर, बरा, सोहारी, गोरसी, परछी, मलिया, घुरवा, ढेंकी, जाँता, पचहत्थी, बंडी, झाँपी, ठाकुरदिया, चूलमाटी, हरदियाही,

डिंड़वा, सरोत्तर, दउवा, नोनी, धँरसा जैसे सैकड़ों शब्द हैं, जिनका आंचलिक अर्थ है और सांस्कृतिक महत्त्व भी। पाठक छत्तीसगढ़ी अथवा छत्तीसगढ़ी शब्दों के व्यवहार से अर्थबाधा के चक्रव्यूह में नहीं फँसेंगे, क्योंकि कृति के अन्त में लेखक ने भाषावैज्ञानिक तरीके से उनके अर्थ भी दे दिए हैं। वैसे भाषा सहज-सरल है। कहीं-कहीं लोकोक्तियों, दोहों, संस्कृत श्लोकों के माध्यम से अपनी विचारधारा में वजन डालने के प्रयास हुए हैं वे औचत्य पूर्ण हैं।

साहित्य-संसार में आत्मकथाओं की संख्या ज्यादा नहीं है, रणबाँकुरों का अभाव-सा है। ऐसे में डॉ. रामनिवास का हस्तक्षेप श्लाघनीय है, उनका स्वागत है। आशा है उनकी यह बाल्यकालीन छवि पाठकों का ध्यान खींचेगी, जहाँ से घुटरूप चले हैं, गिरे हैं, पड़े हैं, उठे हैं और सँभले भी हैं। थाम लीजिए उनके हाथ, ताकि उनकी किस्सागोई रुके नहीं; वे बढ़े चलें, आगे और आगे...।

अज्ञेय के बिम्ब

मनमीत कौर

बिम्ब अँग्रेजी के 'इमेज' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। सन् 1908 में हूल्मे और फिंलट ने बिम्बवाद पर एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने फिंलट को ही इसका प्रवर्तक माना है। 1912 से 17 तक लन्दन और अमेरिका में बिम्बवाद का एक आन्दोलन ही चल पड़ा। इसके अगुआ थे—एजरा पाउंड। इस आन्दोलन में ड्रलिटल, डी.एच. लारेंस, लोवेल, कैरोल विलियम्स, रिचर्ड एलिंगटन आदि भी शामिल थे।[1] हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में देखा जाए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्भवतः ऐसे सर्वप्रथम आलोचक हैं जो कविता में बिम्ब-प्रयोग की चर्चा करते हैं। आचार्य शुक्ल का मानना है कि "काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय ही हो सकता है।" आचार्य शुक्ल मानते हैं कि "बिम्ब ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है।"[2] गौरतलब है कि काव्य के लिए बिम्ब अपरिहार्य है। बिना बिम्ब के काव्य-रचना असम्भव है। यह काव्य का मूलभूत तत्त्व है। इसके द्वारा ही रचना में जीवन्तता आती है। कवि जो कुछ कहना चाहता है, बिम्ब-प्रयोग द्वारा अपनी संवेदनाओं को प्रभावशाली ढंग से अपने पाठकों तक सम्प्रेषित कर पाता है। इसी में बिम्ब की सार्थकता भी है।

भाषा के सार्थक सम्प्रेषण की चिन्ता अज्ञेय को सदैव सताती रही है। वे जानते थे कि उपमान मैले हो गए हैं और देवता इनसे कूच कर गए हैं। भाषा में संवेदनात्मकता और भावात्मकता बनी रहे, इसके लिए अज्ञेय आजीवन प्रयत्नरत रहे। इसके लिए उन्होंने बिम्ब-प्रयोग (जो आगे चलकर प्रतीक रूप धारण कर लेते हैं) को

मनमीत कौर : कोल्हान विश्वविद्यालय (झारखंड) के अन्तर्गत एल.बी.एस.एम. कॉलेज में अतिथि शिक्षक के रूप में कार्यरत। स्थायी पता : बमनडीहा, डाकघर के सामने, पो.—सुन्दरचक, जिला—बर्दवान, पश्चिम बंगाल—713360 मोबाइल : 8436798282; ई-मेल : manameet630@gmail.com

माध्यम बनाया। बिम्बों का उनका अपना समृद्ध संसार है। उनकी कविताओं में 'दीप' अस्मिता का, 'तरंगोर्मियों सहित अथाह सागर' जीवन और उसके संघर्षों का, 'कुमुद' प्रेम का, 'झील का निर्जन किनारा' वियोग का, 'उदास साँझ' असफल प्रेम का, 'सूनी-सी साँझ' असफल प्रेमिका का, 'असाध्य वीणा' में 'वीणा' आत्मा का, 'बावरा अहेरी' सूर्य का प्रतीक है। इसी तरह के कई अन्य बिम्बों की भरमार उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। उनके द्वारा प्रयुक्त बिम्बों का क्षेत्र काफी व्यापक है। प्रकृति, मनोविज्ञान, धर्म, संस्कृति, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों को समाहित कर उनके द्वारा प्रयुक्त बिम्ब विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करते हैं।

डॉ. अनन्तकीर्ति तिवारी के अनुसार, "बिम्बों का प्रयोग करने में अज्ञेय को विशेष दक्षता प्राप्त है। ऐन्द्रिय, वस्तुपरक, भाव और आध्यात्मिक सभी प्रकार के बिम्ब अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ कवि के काव्य के अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।"[3]

अज्ञेय के बिम्ब-विधान के बारे में अशोक वाजपेयी ने कहा है, "एक बिम्ब पर दूसरे का ढेर लगाने की चतुराई, जबकि अक्सर उन्हें काव्यात्मक महत्त्व के स्तर पर थामने के लिए कोई आर्गेनिक सम्बन्ध नहीं या अकेले लम्बे बिम्बों को फैलाने की हिकमत दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं कि अज्ञेय को बुनियादी रूप से अपने नितान्त अकेले होने का एहसास है और वे उससे कविता के माध्यम से परे जाने की कोशिश करते हैं।"[4] बहरहाल अज्ञेय के अकेलेपन और कविता के माध्यम से उस अकेलेपन को दूर करने की कोशिश पर चर्चा फिर कभी।

अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त प्रमुख बिम्ब-रूपों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. ऐन्द्रिय बिम्ब–इसका सम्बन्ध हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों से है।

   1.1. दृश्य बिम्ब–इसका सम्बन्ध नेत्रों से है। इसमें आकार की प्रधानता होती है। दृश्य बिम्ब का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि पाठकों के सामने विषय-वस्तु का पूर्ण दृश्य खड़ा हो जाता है। अज्ञेय ने अपने काव्य में इस प्रकार के बिम्बों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। यथा, "उड़ गई चिड़िया / काँपी, फिर / थिर / हो गई पत्ती।"[5]

   1.2. श्रव्य बिम्ब–इसका सम्बन्ध कर्ण-इन्द्रियों से है। काव्य में ताल, लय, मात्रा, छन्द, अलन्कार आदि का स्वरूप श्रव्य बिम्ब ही है। अज्ञेय के काव्य में श्रव्य बिम्बों का भी सुन्दर संयोजन हुआ है। यथा, "हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर / बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें : / गर्जन, घुर्घर, चीख, भूँक, हुक्का, चिचियाहट।"[6]

1.3. स्पर्श बिम्ब—इसका सम्बन्ध स्पर्श की संवेदना से है। यथा, "केशकम्बली गुफा-गेह ने खोला कम्बल। / धरती पर चुप-चाप बिछाया। / वीणा उस पर रख, पलक मूँदकर, प्राण खींच, / करके प्रणाम, / अस्पर्श छुअन से छुए तार।"[7]

1.4. घ्रातव्य बिम्ब—इसका सम्बन्ध मानव की घ्राण इन्द्रिय से है। इस बिम्ब का प्रयोग भी अज्ञेय ने बखूबी अपनी कविताओं में किया है। यथा, "सूँघ ली है साँस भर-भर / गन्ध मैंने इस निरन्तर / खुले जाते क्षितिज के उल्लास की।"[8]

1.5. आस्वाद्य बिम्ब—इसका सम्बन्ध जिव्हा से होता है। यथा, "खा गया हूँ नदी-तट की / लहराती बिछलन जिसे सौ बार / धो-धो कर गई है अंजली वातास की, / पी गया हूँ अधिक कुछ मैं / स्निग्ध सहलाती हुई-सी / धूप यह हेमन्त की।"[9]

2. प्रकृति के बिम्ब—इसमें कवि की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रकृति माध्यम बनती है। अज्ञेय की 'कतकी पूनो' कविता इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। "छिटक रही है चाँदनी, मदमाती उन्मादिनी / कलगी-मौर सजाव ले कास हुए हैं बावले / पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गई फलाँगती —/ सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती! / कुहरा झीना और महीन, झर-झर पड़े अकासनीम / उजली-लालिमा मालती गन्ध के डोरे डालती, / मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की —/ तेरी बाट अगोरते ए आँखें हुई चकोर की!"[10]

3. यौन बिम्ब—अज्ञेय के यहाँ यौन-बिम्बों की भी भरमार है। इनके काव्य में यौन-बिम्बों की स्वतन्त्र सत्ता है। यथा, "घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले, / भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा, विशद्, श्वासाहत, चिरातुर / छा गया इन्द्र का नील वक्ष-वज्र-सा, यदपि तड़ित् से झुलसा हुआ-सा।"[11]

4. मानस बिम्ब या भाव बिम्ब—इस प्रकार के बिम्बों में भावनात्मकता प्रमुख होती है। इसमें दृश्य-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष अधिक संवेदनशील होता है। अज्ञेय काव्य में इस श्रेणी के बिम्ब भी देखे जा सकते हैं। यथा, "पार्श्वगिरि का नम्र, चीड़ों में / डगर चढ़ती उमंगों-सी। / बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा। / विहग-शिशु मौन-नीड़ों में, / मैंने आँख भर देखा।"[12]

5. वस्तुपरक बिम्ब—इसमें मनुष्य और प्रकृति सम्बन्धी विविध प्रकार के बिम्बों का बड़ी कुशलता से प्रयोग किया जाता है। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' कविता 'वस्तुपरक बिम्ब' का अच्छा उदाहरण है। इसमें मनुष्य

और प्रकृति के बीच अद्भुत सन्तुलन को बड़ी कुशलतापूर्वक दिखाया गया है। यथा, "वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस / अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था —/ उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने, / कन्धों पर बादल सोते थे, / उसकी करि-शुंडों-सी डालें / हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण।"[13]

6. अध्यात्म बिम्ब—इसके अन्तर्गत अध्यात्म सम्बन्धी बिम्बों की चर्चा की गई है। सृष्टि, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत् आदि सम्बन्धित आध्यात्मिक बिम्बों का संयोजन अज्ञेय ने अपनी कविताओं में बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। यथा, "ओ आत्मा री तू गई वरी, / ओ सम्पृक्ता, ओ परिणीताः / महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गईं।"[14]

इन सबके अतिरिक्त, नश्वरता-बोध उभारने वाले बिम्ब, संगीत का बिम्ब, सामाजिक-परिदृश्य सम्बन्धित बिम्ब, वैज्ञानिक बिम्ब, मानव-अंगों के बिम्ब (यथा—'उँगलियाँ बुनती हैं' जैसी कविताएँ), सागर-लहर-पहाड़-पगडंडी का बिम्ब, यान्त्रिक सभ्यता की विकृतियों का बिम्ब, सन्नाटे का बिम्ब, घर का बिम्ब जैसे कई सफल बिम्बों का प्रयोग अज्ञेय ने अपनी कविताओं में किया है। एजरा पाउंड की मानें तो, "यदि कवि अपने जीवन में एक भी सफल बिम्ब प्रस्तुत कर देता है, तो वह असंख्य ग्रन्थों के निर्माण से कहीं अधिक अच्छा है।"[15] इस दृष्टि से अज्ञेय की कविताओं का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उनकी कविताओं में अनेकानेक बिम्बों का सफल संयोजन हुआ है। सार संक्षेप यह है कि अज्ञेय बिम्ब-योजना में अत्यन्त कुशल रहे हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त बिम्बों में नवीनता, विविधता, भावात्मकता जैसे कई विशिष्ट गुण हैं। अल्प शब्दों में वांछित बिम्ब प्रस्तुत कर देने में वे श्रेष्ठ ठहरते हैं। बिम्बों के व्यापक प्रयोग की दृष्टि से उनका काव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

सन्दर्भ—

1. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 76-77
2. बोधिसत्त्व, तारसप्तक : सिद्धान्त और कविता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2016, पृ. 118-119
3. तिवारी, डॉ. अनन्तकीर्ति, अज्ञेय और शेखर : एक जीवनी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1999, पृ. 95
4. बोधिसत्त्व, तारसप्तक : सिद्धान्त और कविता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2016, पृ. 121
5. पालीवाल, कृष्णदत्त (सम्पा.), अज्ञेय रचनावली (खंड-2), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ. 50

6. वही, खंड-2, पृ. 123
7. वही, खंड-2, पृ. 119
8. वही, खंड-2, पृ. 70
9. वही, खंड-2, पृ. 70-71
10. वही, खंड-1, पृ. 285
11. वही, खंड-1, पृ. 230
12. वही, खंड-1, पृ. 270
13. वही, खंड-2, पृ. 118
14. वही, खंड-2, पृ. 96
15. shodhganga.inflibnet.ac.in

राजनीति से दूर होता साहित्यिक व सांस्कृतिक विमर्श

कृष्ण कुमार यादव*

साहित्य की सदैव से समाज में प्रमुख भूमिका रही है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान पत्र-पत्रिकाओं में विद्यमान क्रान्ति की ज्वाला क्रान्तिकारियों से कम प्रखर नहीं थी। इनमें प्रकाशित रचनाएँ जहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक मजबूत आधार प्रदान करती थीं, वहीं लोगों में बखूबी जनजागरण का कार्य भी करती थीं।

चुनावों के दौर में भी तमाम राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों के बीच साहित्यकारों को ढूँढ़ना मुश्किल ही होता है। इनमें फिल्मी दुनिया के अभिनेता, अभिनेत्रियों, खलनायकों, संगीतकारों से लेकर टीवी कलाकार, प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से जुड़े पत्रकार, जादूगर, खिलाड़ी कारपोरेट जगत और रिटायर्ड नौकरशाह तक शामिल होते हैं, पर इन सबके बीच प्रत्याशी के रूप में किसी चर्चित लेखक, कवि या साहित्यकार का नाम नहीं ही दिखता है। ये अपनी विधा या क्षेत्र में कितने भी मशहूर हों, पर न तो स्टार प्रचारक के रूप में साहित्यकारों की माँग है न ही कोई राजनीतिक दल साहित्य, कला या संस्कृति को अपने घोषणा-पत्र में प्रमुख स्थान देने की सोचता है। शायद इसके पीछे यह सोच है कि साहित्य वोट बैंक में तब्दील नहीं हो सकता।

कभी स्वतन्त्रता आन्दोलन में तमाम साहित्यकारों ने आगे बढ़कर आजादी के लिए अंग्रेजों से लोहा लिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर प्रेमचन्द तक ऐसे तमाम उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिन्होंने उस दौरान चलने वाले आन्दोलनों में महती भूमिका निभाई। कौन भूल सकता है कि आज जब साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लड़ने की बात कहीं जा रही है, 1905 के 'बंग-भंग' आन्दोलन के दौरान हिन्दू-मुसलमानों द्वारा एक दूजे को राखी बाँधकर एकता का प्रदर्शन रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सोच थी। सरदार भगत सिंह जैसे क्रान्तिकारी भी ठाकुर की रचनाओं से प्रेरणा पाते थे। भगत

*निदेशक, डाक सेवाएँ, राजस्थान पश्चिमी क्षेत्र, जोधपुर-342001 मो. 09413666599
ई-मेलः kkyadav.t@gmail.com

सिंह ने अपनी जेल डायरी में ठाकुर का एक लेख 'पूँजीवाद और उपभोक्तावाद' अपने हाथों से लिख रखा था। यही नहीं टैगोर की इस उक्ति को भी भगत सिंह ने दर्ज किया था कि ''जो न्यायाधीश अपनी तजवीज की हुई सजा के दर्द को नहीं जानता, उसे सजा देने का हक नहीं।'' यह अनायास ही नहीं था कि काकोरी काण्ड में सजा काट रहे रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खाँ, रोशन लाल इत्यादि क्रान्तिकारी 'सरफरोशी की तमन्ना' के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं काजी नजरूल इस्लाम के क्रान्तिधर्मी गीतों को गाकर वातावरण में देश-भक्ति का उन्माद फैलाते रहते।

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द सिर्फ साहित्यिक प्राणी ही नहीं थे वरन् उनकी कलम सामाजिक विमर्श और तत्कालीन समस्याओं पर भी चली। देश की स्वतन्त्रता के प्रति उनमें अगाध प्रेम था। 12 फरवरी, 1921 को गोरखपुर में घटित चौरी-चौरा काण्ड, जिसमें आन्दोलनकारियों ने उत्तेजित होकर 21 पुलिसवालों सहित समूचे थाने को जला दिया एवं प्रतिक्रियास्वरूप गाँधी जी ने हिंसा की निन्दा करते हुए असहयोग आन्दोलन वापस लेने की घोषणा कर दी। उस समय प्रेमचन्द गोरखपुर में ही गवर्मेण्ट नॉर्मल स्कूल में सहायक मास्टर के पद पर कार्यरत थे। चौरी-चौरा काण्ड के ठीक चार दिन बाद 16 फरवरी, 1921 को प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। इसी प्रकार 11 अगस्त, 1908 को जब 15 वर्षीय क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को अंग्रेज सरकार ने निर्ममता से फाँसी पर लटका दिया तो प्रेमचन्द के अन्दर का देशप्रेम हिलोरें मारने लगा और वे खुदीराम बोस की एक तस्वीर बाजार से खरीदकर अपने घर लाए और कमरे की दीवार पर टाँग दिया।

रामधारी सिंह दिनकर को तो क्रान्ति का उद्घोषक कवि ही कहा गया है, जो बाद में गाँधीवाद के दर्शन से प्रभावित हुए। दिनकर की कविताओं में अगर राष्ट्र का स्वाभिमान था तो गरीब जनता का हाहाकार भी शामिल था। दिनकर की कविताएँ आज भी नव-औपनिवेशिक शक्तियों के विरोध में वैचारिक प्रतिरोध की व्यापक भावभूमि तैयार करती हैं।

आजादी के आन्दोलन के समान्तर तमाम साहित्यकारों का रचना-संसार भी चलता रहा। कभी वे आजादी के नायकों से रूबरू होते तो कभी उन भावनाओं को अपनी रचनाओं में मुखरित करते।। यहाँ तक की आजादी के बाद भी आपालकाल में साहित्यकार चुप नहीं बैठे। अज्ञेय जैसे साहित्यकारों ने आपातकाल का जमकर विरोध किया। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था कि देश आपात के आतंक में जी रहा है और बुद्धिजीवी मौन पड़े हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि लोकतन्त्र में कोई भी दलीय सरकार राष्ट्रीयता की एकमात्र ठेकेदार नहीं हो सकती, अन्यथा वह निरंकुशता की राह पर जाएगी। कमलेश्वर ने आपातकाल के दौर में सरकारी पक्ष के बहिष्कार की एक नई तकनीक इजाद की और 'सारिका' के पन्नों के उन अंशों को सरकारी नौकरशाहों के सामने रखने की बजाय काली स्याही से ढककर अपना विरोध दर्शाया था। उनके बेबाकी के और भी उदाहरण हैं। मसलन, दूरदर्शन का क्षेत्रीय निदेशक बनाने की

चर्चाओं के बीच जब वे तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी से मिलवाए गए तो उन्होंने बेबाकी से उन्हें बताया कि उन्होंने आपातकाल के खिलाफ अखबारों में तमाम सम्पादकीय और 'आँधी' फिल्म की कहानी लिखी है। अन्ततः इन्दिरा जी भी उनकी इस बेबाकीपन और स्पष्टवादिता की कायल हुईं और 1980-82 के मध्य कमलेश्वर दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक पद पर आसीन हुए।

उस दौर में राजनीति से जुड़े लोग भी साहित्य एवं लेखन में रुचि लेते थे और साहित्यकारों एवं बुद्धिजीवियों के साथ विचार-विमर्श कर तमाम फैसले लेते थे। अध्ययन-लेखन की रुचि का आलम इससे समझा जा सकता है कि उस दौर के तमाम चर्चित नाम कविताएँ लिखते, निबन्ध लिखते और उनकी बेहतरीन पुस्तकें प्रकाशित होतीं। महात्मा गाँधी, पं. नेहरू, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डॉ. अम्बेडकर से लेकर पं. दीनदयाल उपाध्याय, आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, लोहिया जैसे तमाम राजनेता जहाँ एक दूरदर्शी विचारक एवं लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, वहीं साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों से अपना नाता भी बनाए रखा। सर्वपल्ली राधाकृष्णन तो शिक्षाविद् एवं जाने माने साहित्यकार थे, वहीं डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सामाजिक संघर्ष के साहित्य का आह्वान किया। जनसंघ के प्रणेता पं. दीनदयाल उपाध्याय ने हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं को उनका स्थान दिलाने के लिए अथक संघर्ष किया तो आचार्य नरेन्द्र देव ने बौद्ध और प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में गहरी समझ विकसित की। आपातकाल के दौर में युवाओं के प्रणेता लोकनायक जयप्रकाश नारायण कविताएँ लिखते थे तो डॉ. लोहिया ने राजनीति एवं धर्म के अन्तःसम्बन्धों को लेकर बहुत कुछ लिखा। डॉ. लोहिया ने तो ''भारत माता, धरती माता'' पुस्तक में राम, कृष्ण, शिव पर निबन्ध लिखकर उनकी एक अलग नजरिए से व्याख्या भी पेश की।

वस्तुतः साहित्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक जड़ता से लड़ने की शक्ति देती है। साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध आलोचनात्मक यथार्थ के हैं, तथा उसमें विश्लेषणात्मकता एवं संश्लेषणात्मकता, दोनों हैं। यही कारण है कि साहित्य के लिए विचारों की स्वतन्त्रता और उन्मुक्त अभिव्यक्ति आवश्यक हैं। देश-दुनिया में ऐसे तमाम उदाहरण भरे पड़े हैं जब साहित्य ने तमाम आन्दोलनों को धार दी। वाल्टेयर ने साहित्य सृजन के माध्यम से फ्रांस क्रान्ति को जन्म दिया, कारण कि उसने चर्च धर्म के द्वारा समाज में जो विसंगतियाँ एवं विकृतियाँ पैदा हो गई थीं, उससे जुड़े अनुभव को समेटते हुए क्रान्तिकारी साहित्य का सृजन किया, जिसका फ्रांस के समाज पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। समकालीन समाज में भी ऐसे तमाम उदाहरण देखे-सुने जा सकते हैं। कभी अच्छे साहित्यकारों को राजसत्ता द्वारा प्रश्रय दिया जाता था, क्योंकि साहित्यकार से अपेक्षा की जाती थी कि वह बिना किसी राग-द्वेष के समाज की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करेगा और राजसत्ता को इससे अपने माध्यमों से इतर एक अच्छा फीड बैक भी मिलेगा। आजादी के बाद भी कुछ दशकों तक राजनेताओं ने अच्छे साहित्यकारों से समय-समय पर संवाद स्थापित कर, उनका वैचारिक सहयोग लिया और इसी बहाने जन सरोकारों से जुड़ रहे।

साहित्य एवं पत्रकारिता से जुड़े तमाम लोग राजनीति में आए और कुछेक राजनेता तो स्वयं ही अच्छे साहित्यकार एवं बुद्धिजीवी थे।

वर्तमान दौर में गौर करें तो राजनीति और साहित्य के अन्तःसम्बन्ध संक्रमण का शिकार हुए हैं। यहाँ एक प्रसंग का उल्लेख समीचीन होगा। आज राजनीतिक दलों में साहित्य एवं संस्कृति-विमर्श का कोई स्थान नहीं रह गया है। एक बार पं. जवाहर लाल नेहरू किसी सभा में निकल रहे थे, कालीन में पैर फँस गया और वह लड़खड़ा गए। उन्हें साहित्यकार रामधारी सिंह दिनकर ने सहारा दिया, पं. नेहरू ने उन्हें धन्यवाद दिया। इस पर दिनकर जी ने तपाक से कहा कि इसमें धन्यवाद देने की जरूरत नहीं है, जब भी राजनीति लड़खड़ाई है, साहित्य ने ही सहारा दिया है। यह चिन्तनीय है कि जो साहित्य कभी राजनीति को रास्ता दिखाती थी, अब वही साहित्य खुद राजनीति का शिकार हो गई लगती है। साहित्य खुद ही इतने गुटों में बँट गया कि हर कोई इसे निगलने के दावे करने लगा। साहित्यकार लोग राजनीति की राह पर चलने को तैयार हैं, बशर्ते कुलपति, राज्यसभा या अन्य कोई पद उन्हें मिल जाए। हर कोई बस किसी तरह सरकार में बैठे लोगों की छत्र-छाया चाहता है। इस छत्र-छाया में ही पुस्तकों का विमोचन, अनुदान और सरकारी खरीद से लेकर सामानों तक की तिकड़मबाजी चलती है। बकौल वरिष्ठ रचनाधर्मी नरेश सक्सेना, ''जहाँ तक साहित्यकार के राजनीति से सरोकार की बात है, लेखक भी इसी भ्रष्ट संस्कृति का हिस्सा बन चुका है। अब उसकी दिलचस्पी केवल पद-पुरस्कारों, विदेश यात्राओं तक रह गई है। पाठक, श्रोता से तो वह आँख नहीं मिलाना चाहता, जबकि उसकी असली ताकत उन्हीं पाठकों-श्रोताओं में है।''

साहित्य और राजनीति के सन्दर्भ में दिनकर ने 19 अक्टूबर, 1945 को 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में लम्बा अध्यक्षीय उद्‌बोधन दिया था। उन्होंने कहा था कि 'साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं, वरन् उससे भिन्न एक स्वतन्त्र देवता है और उसे पूरा अधिकार है कि जीवन के विशाल क्षेत्र में से वह अपने कार्य के योग्य वे सभी द्रव्य उठा ले, जिन्हें राजनीति अपने काम में लाती है।...अगर राजनीति अपनी शक्ति से सत्य की प्रतिमा गढ़कर तैयार कर सकती है तो साहित्य में भी इतनी सामर्थ्य है कि वह उसके मुख में जीभ भर दे।' आगे इसी सन्दर्भ में दिनकर ने साहित्य की सीमा भी रेखांकित की है। उन्होंने कहा, 'साहित्य जहाँ तक अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जीवन के विशाल क्षेत्र में अपना स्वर ऊँचा करता है, वहाँ तक वह पूज्य और चिरायु है, किन्तु जैसे ही वह राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लगेगा, तभी उसकी अपनी दीप्ति छिन जाएगी और वह कला के उच्च पद से पतित हो जाएगा।'

यहाँ नेहरू एवं निराला से जुड़ा प्रसंग याद आता है। एक बार इलाहाबाद में नेहरू जी की सभा हो रही थी। अग्रिम पंक्ति में महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला बैठे हुए थे। निराला जी का कसरती बदन और सफेद दाढ़ी में चमकता आभामण्डल सबका ध्यान

अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। नेहरू जी इस जादू से कैसे अछूते रह सकते थे। मंच पर नेहरू जी का स्वागत हो रहा था। उन्हें फूल-मालाएँ पहनाई जा रही थीं। नेहरू जी ने भाषण की शुरुआत करते हुए कहा, ''पिछले दिनों मैं चीन गया था। वहाँ मैंने एक राजा की कहानी सुनी। राजा के दो बेटे थे। एक बुद्धिमान था और दूसरा मूर्ख। राजा ने मूर्ख बेटे को गद्दी सौंपते हुए कहा कि तुम एक शासक के अलावा कुछ भी बनने लायक नहीं हो। बुद्धिमान बेटे को कहा कि तुम ज्यादा महान कार्यों के लिए बने हो, इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम कवि बनो।'' कभी निराला जी ने पण्डित नेहरू को तवज्जो नहीं दी, पर आज भला किस साहित्यकार में इतना दम है? उस दौर की आज से तुलना करने पर चर्चित साहित्यकार पद्मश्री गिरिराज किशोर बेबाकी से कहते हैं, ''आज लेखक को पूछता कौन है? हिन्दी का लेखक तो हाशिए पर पड़ा है। पहले तो तमाम लेखकों-साहित्यकारों को राज्यसभा में लाया जाता था, आज उनकी जगह सिने अभिनेताओं एवं पत्रकारों ने ले ली है। दूसरे यह कि लेखकों में आज वह खुद्दारी कहाँ रही?''

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गौर करें तो कई बार लगता है कि भारतीय लोकतन्त्र मात्र सैद्धान्तिक रूप से विद्यमान है। सांविधानिक संस्थाओं को कमजोर करके राजनेताओं ने संसदीय लोकतन्त्र को खतरे में डाल दिया है। पर ऐसे में साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों की भूमिका और भी अहम हो जाती है। अन्यथा फिर कोई पूछेगा, आप अपने को बौद्धिक कहते हैं, पहले ये बताइए आपमें से कितने लोग वोट देते हैं? पूँजीवाद के इस दौर में जब संवेदनशीलता और मानवता क्षीण हो रही है और राजनीति में नैतिकता हाशिए पर है, ऐसे में बेहतर राजनीति के लिए साहित्य आत्मीयता का सेतु है। जिस देश की राजनीति में साहित्य, कला और संस्कृति हाशिए पर हों, वहाँ मूल्यों का क्षरण भला कैसे रुकेगा? यही नहीं, अपनी रचनाओं में व्यवस्था को कोसने वाले साहित्यकारों को भी जब मौका मिलता है तो वे राजनीति से बचना चाहते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकतन्त्र केवल सांसदों एवं विधायकों को सुधारने से नहीं सुधरेगा। एक जन-आन्दोलन के माध्यम से पूरे देश में सामाजिक जागृति लानी होगी और उसमें साहित्यकारों की अहम भूमिका होगी। सत्ता एवं व्यक्ति तथा समाज के अन्तःसम्बन्धों की गहनता को साहित्यकार सूक्ष्मता से निरूपित करता है। कहते हैं साहित्यकार समय से आगे की सोच रखता है और शायद यही कारण है कि बदलाव की आहट को जितनी संवेदनशीलता से एक साहित्यकार महसूस करता है, कोई अन्य नहीं। उसमें एक बौद्धिक एवं नैतिक साहस का भाव होता है। ऐसे में राजनीतिक दलों को साहित्य, भाषा, कला एवं संस्कृति को मुख्यधारा में सोचने की संवेदनशीलता रखनी चाहिए। आज जरूरत है कि समाज में परिवर्तन हेतु साहित्य और राजनीति का सकारात्मक दृष्टिकोण से सिक्के के दो पहलुओं की भाँति कार्य करना चाहिए, क्योंकि यदि वे चाहें तो एक-दूसरे को समृद्ध कर सकते हैं और जन-सरोकारों से ज्यादा जुड़ सकते हैं।

कहानी के अन्तश्चैतन्य और अन्तश्चारित्र्य के वैशिष्ट्य का आलेखन

निशान्तकेतु*

डॉ. वरुण कुमार तिवारी हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार और स्थापित समालोचक हैं। रचना और आलोचना दोनों परिक्षेत्रों में डॉ. तिवारी यशस्तिलकित हुए हैं। इनका एक नवीवतम ग्रन्थ है, 'डॉ. मधुकर गंगाधर की कहानी-यात्रा'। इसमें इनकी सम्पादन कला का जो दृष्टान्त मिलता है, वह कदापि उपेक्षणीय नहीं है। इसमें 23 आलोचकों से मधुकर गंगाधर की कहानियों पर समीक्षाएँ लिखवाई गई हैं। डॉ. गंगाधर की कहानियों को सर्वांगीण ढंग से समझने के लिए इन लेखकों और उनकी समीक्षाओं का ऐसा अनुक्रम अपेक्षित था। डॉ. तिवारी ने एक लम्बी भूमिका के माध्यम से हिन्दी कहानी का इतिहास और भूगोल दोनों प्रस्तुत करते हुए कहानी के अन्तश्चैतन्य और अन्तश्चारित्र्य का वैशिष्ट्य उपस्थित किया है। इस भूमिका के साथ 'कहानी की कहानी' का भी उल्लेख किया है। सम्पादक की दृष्टि में नई कहानी के विकास में 1950 से 1965 तक का काल स्थिर-निर्धारित किया गया है। इस परिधि-परिसीमा में कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, अमरकान्त, शिव प्रसाद सिंह, शेखर जोशी, रमेश बक्शी, फणीश्वर नाथ रेणु, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, मधुकर गंगाधर, शैलेश मटियानी, हरिशंकर परसाई, कृष्ण बलदेव वैद के नामों का उल्लेख किया गया है। इस सूची में अनेक महत्त्वपूर्ण नाम छूटे हुए हैं, जैसे—अज्ञेय, शिवानी, अमृतलाल नागर, अमृत राय, नलिन विलोचन शर्मा, शिवचन्द्र शर्मा, जहूर बक्श, प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त' इत्यादि। ये छोड़ दिए जानेवाले नाम

*सम्पर्कः 'शब्दाश्रम', बी-970, पालम विहार, गुरुग्राम (गुड़गाँव)-122017

**समीक्षित कृति : मधुकर गंगाधर की कहानी यात्रा, सम्पादक : डॉ वरुण कुमार तिवारी, प्रकाशक : मुकुल प्रकाशन, रघुवंशी निकेतन, सान्निध्य श्री आद्या कात्यायनी शक्तिपीठ मन्दिर, छतरपुर, मेहरौली, नई दिल्ली-74 सस्करण : 2015; मूल्यः 300 रु. पृष्ठः 192

नहीं हैं। सम्पादक की दृष्टि में भैरव प्रसाद गुप्त के सम्पादन में 1956 में प्रकाशित 'कहानी' पत्रिका से नई कहानी का आरम्भ होता है। यह भी एक दृष्टिपथ है। किन्तु हिन्दी-कहानी का नवोत्थान नलिन विलोचन शर्मा के कहानी-संग्रह 'विष के दाँत (1951 ई.) से शुरू होता है। इसमें संगृहीत 'विष के दाँत' और 'ये बीमार लोग' ये दो ऐसी कहानियाँ हैं, जो हिन्दी के कथा-शिल्प और मनोवैज्ञानिक शिलान्यास का स्वरूप धारण करती हैं। बाद में उनके दूसरे कहानी-संग्रह 'सत्रह असंगृहीत पूर्व छोटी कहानियाँ' में प्रकाशित 'बरसाने की राधा' भारतीय प्रेम-परम्परा को उपस्थापित करने वाली अनन्य कहानी सिद्ध हुई। यह न केवल हिन्दी, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय भूमि पर गुणाढ्य की गुणवत्ता से सम्पन्न अद्वितीय कहानी है। इसकी उपेक्षा इतिहास को अस्वीकार करने जैसा होगा।

डॉ. मधुकर गंगाधर समर्थ कहानीकार होने के बावजूद अल्प-प्रसिद्ध रचनाकार रहे हैं। इनकी रचनाएँ धर्मयुग, कहानी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, अवन्तिका, सारिका, विनोद, लहर इत्यादि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं, किन्तु इन्हें अपेक्षित प्रसिद्धि नहीं मिल सकी। यह हिन्दी आलोचकों का आलस्य और उपेक्षा है। ऐसी अपेक्षा की जा रही है कि भविष्य में हिन्दी का समालोचक-समुदाय अपने कर्तव्य-बोध के प्रति सजग होगा। डॉ. गंगाधर ने ग्रामीण, कस्बाई और नगरांचल इन तीनों भूमिपीठों की कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु स्वयं वे इस वर्गीकरण से असहमत हैं। उनकी दृष्टि में कहानी एक अपराजेय जिजीविषा और अनवरत संघर्ष है। यह अच्छी बात है। इस आधार पर डॉ. वरुण तिवारी ने डॉ. मधुकर की कहानियों का विश्लेषण सही ढंग से किया है। कहानीकार कहानी के किसी भी आन्दोलन या वाद से सहमत नहीं हैं। हिन्दी कहानी के इतिहास में नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी, समानान्तर कहानी इत्यादि आन्दोलनों के रूप में कहानी की बहुधाराएँ बहती रहीं, किन्तु डॉ. मधुकर इस वर्गीकरण को नहीं मानते हुए लिखते हैं। वे जीवन-प्रवाह की उच्छल कहानियाँ लिखते हैं। सम्पादक डॉ. वरुण कुमार तिवारी ने कहानीकार की इस दृष्टि को रेखांकित किया है।

सम्पादक ने प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी की तुलना डॉ. मधुकर की कहानी 'ढिबरी' से की है। प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' की तुलना में 'ढिबरी' कहानी पाठक को अधिक झकझोरती है। दोनों कहानियों के केन्द्र में प्रसव-पीड़ा की घटना ही है, परन्तु 'कफन' के घीसू (पिता) और माधव (पुत्र) दोनों की निष्क्रियता से प्रसवगर्भा बुधिया (बहू) मर जाती है, लेकिन 'ढिबरी' का नायक सचीत अपनी प्रेमिका दलित-पत्नी की प्रसव-पीड़ा से मुक्ति के लिए अथक संघर्ष करता है। यह तुलना तर्क रहित है। प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी में घटित मृत्यु की पीड़ा प्रत्येक पाठक को आजीवन पीड़ित और आन्दोलन करती रहती है। कहानीकार का इतना की उद्देश्य है कि वह घटना के घनीभूत रूप को उपस्थित कर दे। समाधान तो प्रत्येक युग अपने-अपने

अनुकूल करता है। कहानीकार संवेदना और पीड़ा की पराकाष्ठा पर लाकर पाठक को छोड़ता है। समाधानमूलक कहानियाँ कमजोर मानी जाती हैं।

'धर्मयुग' में प्रकाशित डॉ. मधुकर गंगाधर की कहानी 'शेर छाप कुर्सी का रोजनामचा' को सम्पादक ने विशेष महत्त्व दिया है। यह दफ्तर प्रसंगाचल की कहानी है। अपनी कहानियों के माध्यम से कहानीकार दबी-कुचली मनुष्यता की तलाश करता हुआ उन्हें पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करता है। इस सम्बन्ध में लेखक ने गोर्की का उल्लेख किया है। लेखक ने दलित चेतना की वैसी कहानी लिखी, जिसके आधार पर भविष्य की ऐसी कहानियाँ आधारित हैं। इन दोनों प्रसंगों के सम्बन्ध में कहानीकार का वक्तव्य सोद्धरण इनकी कहानियाँ हिन्दी कहानी के पारम्परिक मुहावरे की जमीन को जहाँ समूची अर्थवत्ता के साथ तोड़ती हैं, वहीं आज के जीवन की तमाम असंगतियों का एक स्पष्ट और सही साक्षात्कार भी करवाती हैं। 'उठे हुए हाथ' का उदाहरण लें। इसमें कथा नायिका अकेली नहीं पड़ती है, बल्कि सामाजिक चेतना-सम्पन्न होकर अन्त तक गोर्की के पात्रों की तरह असंगतियों-अनाचारों से जूझती है, फिर अपनी लड़ाई का झण्डा अगली पीढ़ी को उसी तरह थमा देती है, जिस तरह गोर्की की कहानी में।

मधुकर के शब्दों में—'आप गोर्की की कहानियों को लें। वे कहानियाँ अपने तमाम पात्रों को प्रतिपल मनुष्यता के लिए संघर्ष करते दिखलाती हैं। पावेल की माँ पढ़ी-लिखी नहीं थी, किन्तु वह संघर्ष में हमेशा मददगार थी।' 'उठे हुए हाथ' (कहानी संग्रह) की तीनों कहानियाँ—'गूँज', 'फाँसी' और 'उठे हुए हाथ' के माध्यम से कथाकार भारतीय ग्रामीण स्त्रियों की हजार वर्षों की यात्रा को चिह्नित करते हैं। 1954-55 में डॉ. मधुकर ने 'घिरनीवाली' कहानी लिखी, जो सर्विस लैट्रिन साफ करने वाली एक मेहतरानी की कहानी है। लेखक की यह पहली कहानी मानी जाती है। इसके बीस वर्षों बाद सुलभ इंटरनेशनल सोशल सर्विस ऑर्गनाइजेशन की स्थापना हुई, जिसे देश से लेकर विदेश तक बहुत प्रतिष्ठा मिली। समाज और सरकार ने भी इसे मान्यता दी।

मूल लेखन, समालोचना और सम्पादन—लेखक के ये तीन कर्म होते हैं। किसी एक में सिद्ध लेखन की उपलब्धि से ही लेखकीय आख्या उपलब्ध हो जाती है। डॉ. वरुण कुमार तिवारी तीनों साहित्यिक पक्ष के सिद्ध लेखक हैं। हिन्दी साहित्य में इनकी रेखांकनीय उपलब्धि का उल्लेख होगा। वे हिन्दी के और भी समर्थ और स्वीकृत हस्ताक्षर बनें, ऐसी कामना करता हूँ।

काव्य परिदृश्य का सटीक उद्‌घाटन

डॉ. लव कुमार*

अपनी काव्य-साधना और सवेदनशीलता के बूते पर, आलोचना में अपनी सामर्थ्य सिद्ध करने वाले डॉ. वरुण कुमार तिवारी के विचारों में व्यापकता और गहराई है। उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता और एक विशेष प्रकार का रचनात्मक तेवर उन्हें एक खास अन्दाज देते हैं और यह बात उनकी तीनों कविता-पुस्तकों में महसूस की जा सकती है, क्योंकि इनमें विचारों की गहनता, जीवन की गम्भीरता और सोच की व्यापकता के साथ-साथ जीवन कटु-कठोर यथार्थ भी है जो हमारे दिल के अन्तर्भावों को कुरेदता है। बालस्वरूप राही के शब्दों में, 'जागरूक संवेदनशील कवि वरुण कुमार तिवारी को उनके होने का एहसास कराती है कविता।...कविता की इस अटूट प्रतिबद्धता तथा अतुलनीय क्षमता में दृढ़-विश्वास कवि वरुण को ऐसी जिजीविषा से भर देता है जो मानवता के लिए विघटनकारी भयावह परिस्थितियों में भी अपराजेय बनी रहती है।' (पृ. 99) इन कविताओं में अनेक स्थलों पर कवि की नकारात्मक मुद्रा लक्षित होने के बावजूद टूटन और त्रासदियों के शब्दांकन में एक आन्तरिक अन्विति है, एक प्रकार की वैचारिक ऊर्जा और असहज-अस्वाभाविक के लिए प्रतिरोध का तेवर है जो आश्वस्तकारी परिप्रेक्ष्य से परिपूर्ण भी है। इसी आन्तरिक अन्विति के अन्वेषण और विचारोद्‌घाटन के उद्देश्य से आनन्द प्रकाश त्रिपाठी ने 'प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना' का सार्थक सम्पादन किया है। पुस्तक का शीर्षक भी डॉ. तिवारी की कविता से लिया गया है। 'प्रतिरोध की कविता' के रूप में व्याख्या करते हुए नित्यानन्द तिवारी लिखते हैं कि 'उनकी कविताओं में आज के समय का एहसास जिन रूपकों और संरचनाओं में व्यक्त हुआ है, वे भूमण्डलीकरण का दबाव और सुविधाएँ झेलते/भोगते समाज के भीतर से उत्पन्न हैं। इधर-उधर कुछ सपने, कुछ गर्म साँसें, और भाषा के कुछ मुहावरे अपने सन्दर्भों से टूटे हुए लेकिन सजीव हरकतों के साथ

* ग्राम-पोस्ट-गढ़बनैली, जिला-पूर्णिया, बिहार, पिन-854325 मो. 9430276299

** प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना, आनन्द प्रकाश त्रिपाठी (सम्पादक), प्र. सं. 2015, नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य 395/-, पृ.190

बचे हुए हैं। उन्हीं को सहेजकर फिर से जीवन पाया जा सकता है और यही प्रतिरोध है।' (पृ.16) वस्तुतः वरुण कुमार तिवारी की कविताएँ कविता की जरूरत को नए सन्दर्भ और परिवेश में नई ऊर्जा के साथ प्रस्तावित करने वाली हैं जिनमें समाज जीवन के भौतिक क्लेश के साथ ही यथार्थ, अभाव, मरण, वंचितों और दुःखियों की असीम वेदनाएँ, हृदय को द्रवित करने वाले जीवन-सन्दर्भ, विविध परिप्रेक्ष्य और स्मृतियों के उजास से परिपूर्ण हैं।

समीक्ष्य कृति में सम्पादक ने वरुण कुमार तिवारी के तीनों काव्य-कृतियों—'कुछ दूर रेत पर चलकर' (2009), 'अपने होने का एहसास' (2007) और 'तीसरी दुनिया के लिए' (2002) की कुल सत्तर समीक्षाएँ संकलित की हैं जो किसी-न-किसी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हैं अथवा कुछ स्वतन्त्र रूप से इस पुस्तक के लिए ही लिखी गई हैं। सभी समीक्षाओं का अपना वैशिष्ट्य अपना दायरा और मूल्यांकन दृष्टि है, अपनी अलग सीमाएँ भी हैं। रचनाओं से सहमति या असहमति, प्रशंसा और विरोध, तर्क-वितर्क और मूल्याकंन दृष्टि है, अपनी अलग सीमाएँ भी हैं। रचनाओं से सहमति या असहमति, प्रशंसा और विरोध, तर्क-वितर्क और मूल्यांकन एवं पिष्टपेषण की समानान्तर भावभूमि पर लिखी गई ऐसी समीक्षाएँ कहीं अन्वेषणपरक भी हैं, कहीं विश्लेषणात्मक और कहीं टिप्पणीमूलक भी, परन्तु सभी समीक्षाओं में तिवारी जी की कविताओं में सोच से ज्यादा महत्त्व संवेदनाओं को पकड़ने की प्रवृत्ति है। तिवारी जी सीमित अनुभवों वाले कवि नहीं हैं और न ही भाषा और शिल्प में एकरसता के शिकार हुए हैं बल्कि सच्चाई तो यह है कि उनकी कविताओं अपने सहज-स्वाभाविक रूप में हमें मनुष्यता को बचाए रखने की सीख देने वाली और इस समझ की शक्ति जगाने वाली है। इसलिए दिविक रमेश का कहना उचित है कि ''कवि ने आज के समय की नब्ज़ को पूरी तरह पकड़ा और पहचाना है और उतने ही सटीक ढंग से उसे अभिव्यक्त भी किया है। अभिव्यक्ति में कहीं कोई गुंजलक नहीं, चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति नहीं।'' (पृ. 32)

अस्तु, इन तीनों काव्य-कृतियों पर लिखी गई समीक्षाएँ बड़ी सन्तुलित, काव्य-गर्म को उद्घाटित करने वाली, अन्तर्वस्तु और शिल्प की अन्तस्संगति की गहन पड़ताल करने वाली हैं। इनमें कवि तिवारी की संवेदना, आस्था, विश्वास, मूल्यधर्मिता और सामाजिक सरोकारों को स्पर्श करने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह स्पष्ट है कि तिवारी जी की कविताएँ सामाजिक परिवर्तन में कारगर भूमिका निभाने वाली हैं और इस बात के लिए स्वयं कवि के मन में भी कोई संशय नहीं है। 'अपने होने का एहसास' के समीक्षकों ने कवि के जीवनानुभवों और अपनी संरचना के भीतर से उभरती संवेदनाओं को कुरेदने की यथासम्भव कोशिश की है। नन्दकिशोर नवल, विवेकी राय, बलदेव वंशी, रामदरश मिश्र, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, विष्णु प्रभाकर, रामनिहाल गुंजन और श्रीरंजन सूरिदेव जैसे वरिष्ठ आलोचकों की लिखी समीक्षाएँ सारगर्भित और वस्तु-विश्लेषणपरक होते हुए भी टिप्पणी के आकार-प्रकार की हैं जो समीक्षकीय मन्तव्य की दृष्टि से मर्मोद्घाटन के कारण उल्लेखनीय हैं, लेकिन सच यह

है कि तिवारी जी की काव्यकृति का समग्र मूल्यांकन और वस्तुगत अनुभूति का विशद् उद्घाटन इन टिप्पणियों में नहीं हो सका है। इसलिए इन समीक्षाओं में गहराई तो है पर फैलाव नहीं, सूत्र रूप में ही सही पर सत्योद्घाटन तो है लेकिन विस्तार नहीं।

अरस्तु ने कहा है कि 'काव्य का उद्देश्य एक उच्चस्तरीय आनन्द प्रदान करना है।' किन्तु आज के समय में जिस तरह से काव्य का सृजन हो रहा है, इससे कविता की काव्यात्मकता और आनन्द की उच्चता शोचनीय हो गई है। ऐसी स्थिति में इन समीक्षकों द्वारा वरुण कुमार तिवारी की कविताओं में जीवन की जड़ता पर प्रहार करने और जीवन में नए अर्थों की तलाश करने की प्रवृत्ति एक सुखद अनुभूति कराती हैं। संकलित समीक्षाओं में निष्पक्षता एवं विवेचनात्मकता स्पष्ट दिखाई देती है और मनुष्य के जीवन के अनेक आयामों को गम्भीर ढंग से उजागर करने की कोशिशें भी। तिवारी जी ने जीवन के लिए जीवन की कविता रची है जिसमें भाषा की रवानी और मिट्टी का सोंधापन है, प्रतिरोध का स्वर है और आशा की एक नई किरण भी। स्पष्ट है कि कवि आम जनता से भी जुड़ा है और उनके संघर्षों में उनके साथ है और इसी कारण तिवारी की कविताएँ इतनी परिपक्व हैं तथा बिना किसी विचारधारा के आरोपण के ही सार्थक जीवन-मूल्यों और दृष्टि-सम्पन्नता से परिपूर्ण हैं। इसलिए भगवानदास जैन की यह उक्ति अनुचित नहीं कि ''वरुण कुमार तिवारी सामाजिक सरोकारों तथा समकालीन बोध के सशक्त हस्ताक्षर हैं।...वे सकारात्मक मूल्यों के कवि हैं तथा अपने ऊर्जस्वी शब्दों के द्वारा समय के खिलाफ सार्थक हस्तक्षेप करने के लिए जूझ रहे हैं।'' (पृ. 69)

समीक्ष्य कृति में सम्पादक डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी की दृष्टि 'डॉ. तिवारी की कविताओं के महत्त्व और समाज के प्रति उनकी निष्ठा और सरोकारों से वाकिफ कराना है।' अपने समय और समाज के लगभग हर छोटे-बड़े प्रश्नों, संघर्षों और मनुष्य-मन की पीड़ा को सही कोण से एवं व्यापक संवेदना के स्तर पर देखने-समझने वाले डॉ. तिवारी की कविताओं की इन समीक्षाओं में भी एक नया ढब, मर्मस्पर्शी संवेदना का रंग, विचारों का तेवर और एक नई भाषा-शैली मिलती है क्योंकि विद्वान समीक्षकों ने बड़ी स्पष्टता, तटस्थता और ईमानदारी के साथ उनकी कविताओं की समीक्षाएँ लिखी हैं। इन समीक्षकों ने तिवारी जी के काव्य में निहित जीवन-मूल्यों, निषेधात्मक मूल्यों और उसके प्रतिरोध में उठ खड़े होने की चेतना को स्पर्श कर उद्घाटित करने का प्रयास किया है। कवि के मूड, उनकी संवेदना और प्रतिबद्धता, उनकी जीवन-दृष्टि, यथार्थ की पकड़ और प्रतिरोध की क्षमता को पकड़कर उसे संयमित भाषा में अभिव्यक्त करने के कारण 'प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना' नए काव्य-समीक्षकों और अध्येताओं के लिए सकारात्मक सोच विकसित करने वाली है। यहाँ पुरानी एवं नई पीढ़ी, और इनके बीच से उभर रही एक और युवापीढ़ी के रचनाकारों और आलोचकों द्वारा वरुण कुमार तिवारी की कविताओं के मूल्यांकन का प्रयास इस पुस्तक की एक उल्लेखनीय विशेषता है। समीक्षा के कई रंग-रूप, बदलते तेवर, भाषा की अर्थच्छवियाँ और विभिन्न शैलियाँ एक साथ इस कृति में दिखाई देने के कारण निश्चय ही काव्यालोचन जगत में इसका स्वागत किया जाएगा।

हिन्दी साहित्य में भोपाल की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार*

झीलों की नगरी भोपाल मनमोहक झीलों एवं तालाबों, सांस्कृतिक विरासत, सुन्दर वातावरण के साथ-साथ एजुकेशन हब, रियल इस्टेट कारोबार आदि के लिए भी विश्वविख्यात है। पर्यटन के हिसाब से भी भोपाल को असीम सम्भावनाएँ विरासत में मिली हैं। यहाँ का छोटा तालाब, बड़ा तालाब, भीम बैठका, वन विहार तथा रंगकर्मियों की हृदय स्थली भारत भवन देखने योग्य है। जहाँ भोपाल एवं दूर-दराज के रंगकर्मियों द्वारा विभिन्न नाटकों को खेला जाता है। भोपाल के पास स्थिति साँची का स्तूप भी पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है। भोपाल से लगभग 28 कि.मी. दूर स्थित भोजपुर मन्दिर एक ऐतिहासिक दर्शनीय स्थल है। भोपाल में आने वाले प्रत्येक मेहमान का भोपाल खुले दिल से स्वागत करता है। इतनी सारी खूबियों के साथ-साथ भोपाल हिन्दी पत्रकारिता के रूप में भी अपनी महत्त्वपूर्ण ख्याति अर्जित कर चुका है।

आज हिन्दी में देश से कई छोटी-बड़ी साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं एवं इन पत्रिकाओं का पाठक-वर्ग भी बहुतायत में है जो इनको खरीदता एवं पढ़ता है, इस दृष्टि से इनकी स्थिति सुदृढ़ कही जा सकती है। इन पत्रिकाओं की लोकप्रियता का कारण यह भी है कि कम कीमत में यह पाठकों तक पहुँच जाती है और इनके पाठकों को खरीदकर पढ़ने में कोई गुरेज भी नहीं होता है। इनकी बिक्री भी दिनोंदिन सन्तोषजनक होती जा रही है। ये पत्रिकाएँ आज व्यापक रूप से प्रकाशित हो रही हैं एवं इनका क्षेत्र फैलता जा रहा है। पाठक इन पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में हो रही घटनाओं की जानकारी एवं हिन्दी के प्रतिष्ठित रचनाकारों की लेखनी की जानकारी प्राप्त होती रहती है। आज देश में कई बेहतरीन पुरानी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ

*आवास क्रमांक एच-3, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट, वायपास रोड, गाँधी नगर, भोपाल-462033 (म.प्र.), मो. 9826583363

बेहतर प्रचार-प्रसार एवं पाठकों के अभाव में बन्द भी हो रही हैं, फिर भी हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं का एक अपना बाजार है जो इनको जिन्दा बनाए हुए है।

कम्प्यूटर एवं इण्टरनेट के युग में कुछ पत्रिकाएँ सीधे ही बेवजाल पर प्रकाशित की जा रही हैं, यह भी एक सराहनीय कदम है, क्योंकि बेवजाल पर प्रकाशित होने से यह पत्रिकाएँ देश में ही नहीं, बल्कि विदेशों में बैठे प्रवासी भारतीयों का भी भरपूर मनोरंजन करती हैं। इस तरह से इन पत्रिकाओं के प्रकाशनों द्वारा विदेश में भेजने का डाक खर्च भी बच जाता है एवं पत्रिका भी शीघ्र पाठकों तक पहुँच जाती है। इस लिहाज से बेवजाल पर पत्रिकाओं का प्रकाशन पाठकों के दृष्टिकोण से लाभप्रद ही माना जाएगा। आज विभिन्न पत्रिकाएँ बेवजाल पर और प्रिण्ट रूप में लगातार प्रकाशित हो रही हैं एवं कुछ केवल प्रिण्ट रूप में ही प्रकाशित होती हैं।

अगर नजर डाली जाए तो मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से ही आज छोटी-बड़ी लगभग 25-30 पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जो भोपाल के साहित्यिक वातावरण को और अधिक सुन्दर बना रही हैं। प्रस्तुत आलेख का मकसद पाठकों को भोपाल से प्रकाशित हिन्दी पत्रिकारिता के वर्तमान परिदृश्य से एक परिचय कराना है। पाठक स्वयं देखेंगे कि भोपाल से आज कितनी विश्वस्तरीय पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं।

पाठकीय दृष्टिकोण से पत्रिकाओं के सम्बन्ध में एक जाना-माना सच यह भी है कि एक पाठक पत्रिका पढ़ना चाहता है परन्तु उसे एक ही स्थान पर सम्पूर्ण सटीक जानकारी पत्रिका से सम्बन्धित नहीं मिल पाती है जिससे वह निराश एवं भ्रमिम होता है। प्रस्तुत आलेख इन्हीं कमियों को पूर्ण करने का एक महनीय कार्य करता है जिसमें पत्रिकाओं का प्रकाशन, सम्पादक/सम्पादिका का नाम, पत्रिका किस विधा पर केन्द्रित है, पत्रिका का सम्पादकीय सम्पर्क, मूल्य, ई-मेल एवं उसका दूरभाष नं. आदि। यह वह जानकारी है जो हर पाठक एक पत्रिका के सम्बन्ध में जानना चाहता है। आलेख में भोपाल से प्रकाशित लगभग समस्त पत्रिकाओं के सम्बन्ध में जानकारी देने का प्रयास किया गया है फिर भी इन पंक्तियों के लेखक से कुछ पत्रिकाओं के नाम पकड़ में ना आ पाए हों, उसे आगामी समय में दुरुस्त किया जाएगा।

वर्तमान समय में कुछ पत्रिकाएँ सीधे बेवसाइट पर, कुछ बेवसाइट एवं मुद्रित कॉपी में एवं कुछ केवल मुद्रित कॉपी में प्रकाशित हो रही हैं। आलेख में ऐसी समस्त जानकारियों को विस्तृत रूप से देने का प्रयास किया गया है।

प्रवासी भारतीयों की मासिक पत्रिका का नाम 'गर्भनाल' है जो पूर्व में प्रिन्ट रूप में प्रकाशित की जाती रही थी, परन्तु आज यह केवल बेवजाल पर ई-पत्रिका के रूप में ही प्रकाशित की जा रही है। पत्रिका अपनी जमीन से दूर रहने वाले प्रवासी भारतीयों की आवाज को रखने के मंच के तौर पर गर्भनाल एक मंच प्रदान करने का प्रयास कर रही है। 'गर्भनाल' प्रवासी भारतीयों की मासिक ई-पत्रिका है जो हर महीने

www. garbhnaal.com बेवसाइट पर पी.डी.एफ. के रूप में वितरित की जाती है। इसे लगभग 50 हजार ई-मेल पतों पर भेजा जाता है। यह प्रयास अनवरत जारी है, दुनिया-भर के हिन्दी प्रेमियों ने इसे प्रोत्साहित किया और सराहा है। इधर कुछ समय से पत्रिका के कुछ अंक सीमित प्रतियों में पाठकों को मुद्रित रूप में भी देखने को मिले हैं। यह एक सम्पूर्ण साहित्यिक पत्रिका है जो मीनाल रेसीडेन्सी, भोपाल से प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका में हिंदी की दशा एवं दिशा के साथ-साथ, उसके स्वरूप एवं उसके विकास को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता है। धार्मिक चर्चाएँ भी इस पत्रिका की एक प्रमुख खूबी है जिसमें पाठकों के समक्ष रामायण, महाभारत, गीतासार आदि से सम्बन्धित विभिन्न रचनाकारों के विचार प्रमुखता से रखे जाते हैं। इस पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सुषमा शर्मा जी साहित्य की इस बहुरंगी यात्रा के लिए बधाई की पात्र हैं, जो इतनी बढ़िया साहित्यिक पत्रिका पाठकों तक पहुँचा रही हैं। इस लिंक पर पत्रिका के प्रथम प्रकाशन (नवम्बर 2006) के बाद से वर्तमान अंक तक पी. डी.एफ. फाइल के रूप में सँजोकर रखे गए है। पाठक नए अंकों के साथ-साथ पुराने अंकों को भी देख एवं पढ़ सकता है। इस लिहाज से यह एक सराहनीय कदम है। दूरभाष क्रमांक-09425124428.

जल संरक्षण (पर्यावरण) साहित्य एवं शिक्षा की मासिक पत्रिका 'शिवम्पूर्णा' है। पत्रिका के सम्पादक श्री युगांशु मालवीय हैं एवं इस पत्रिका का प्रकाशन वायपास रोड, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में प्रमुखतः जल संरक्षण एवं पर्यावरण को सहेजने हेतु किए जाने वाले कार्यों की चर्चा के तहत सारगर्भित सामग्री पत्रिका में प्रमुखता से प्रकाशित होती है। साहित्य सृजन को भी पत्रिका में स्थान मिलता है। पहले यह पत्रिका सिर्फ मुद्रित रूप में प्रकाशित हो रही थी परन्तु कुछ समय पहले पत्रिका के सम्पादक ने इसको www. shivampurna.com नामक बेवसाइट पर भी प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है जो साहित्यिक दिशा में एक क्राान्तिकारी कदम माना जाएगा। पत्रिका के नए पुराने अंक उपर्युक्त साइट पर देखे जा सकते हैं। मुद्रित रूप में पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 20 रु. और वार्षिक 200 रु. है। दूरभाष नं. 09926310994.

वनमाली सृजन पीठ भोपाल की त्रैमासिक संवाद पत्रिका 'रंग संवाद' का प्रकाशन करता है। पत्रिका के प्रधान सम्पादक श्री सन्तोष चौबे एवं सम्पादक श्री विनय उपाध्याय जी हैं। पत्रिका में मुख्यतः रंगमंच से जुड़ी घटनाएँ एवं कहानी, आलेख आदि को प्रस्तुत किया जाता है। पत्रिका का प्रकाशन अरेरा कॉलोनी, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका की बेवसाइड www. vanmali.in पर पत्रिका के कुछ पुराने अंकों को भी रखा गया है जिसका पाठकों द्वारा आसानी से अवलोकन किया जा सकता है। दूरभाष नं. 0755-2423806 मो. 09826392428.

हबीवगंज रोड, भोपाल से मासिक समाचार-पत्र 'शिखर-वार्ता' का प्रकाशन

किया जाता है। पत्र के संस्थापक सम्पादक श्री विष्णु राजोरिया, सम्पादक श्री आशीष राजोरिया एवं कार्यकारी निदेशक श्री मनीष राजोरिया जी हैं। पत्र में खेल, सिनेमा, शहरनामा, साहित्य, ज्योतिष, कला, नजर और नजरिया आदि के नियमित स्तम्भ के तहत प्रस्तुत सामग्री से पाठकों को अवगत कराया जाता है। पत्रिका को www.magzter.com बेवसाइट पर भी पाठकों हेतु प्रकाशित किया जाता है। इस पत्र के एक अंक की कीमत 20 रुपए, वार्षिक 200 रुपए, द्विवार्षिक 380 रु. त्रिवार्षिक 500 रु. एवं आजीवन सदस्यता 2500 रु. है। दूरभाष क्रमांक-01704-255025, 318724 मो. 09318055025.

'समागम'—यह मीडिया, एवं संस्कृति पर एकाग्र देश की अपनी तरह की इकलौती मासिक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक श्री मनोज कुमार जी एवं डॉ. विशाला शर्मा सहयोगी सम्पादिका हैं। पत्रिका का प्रकाशन शिवाजी नगर, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में मीडिया एवं संस्कृति पर आधारित आलेख शोधार्थियों के लिए बहुमूल्य साबित हो सकते हैं। पत्रिका को www.sabrangweb.com बेवसाइट पर भी पाठकों हेतु प्रकाशित किया जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 50 रु. एवं वार्षिक 600 रु. है। दूरभाष क्रमांक-मो.09300469918.

'आंचलिक पत्रकार'—यह जनसंचार माध्यमों और विज्ञान संचार की मासिक शोध पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक श्री विजयदत्त श्रीधर जी हैं। डॉ. विजयदत्त श्रीधर को देश में एक प्रतिष्ठित पत्रकार के रूप में जाना जाता है। उनके द्वारा दो भागों में वाणी प्रकाशन नई दिल्ली से प्रस्तुत 'भारतीय पत्रकारिता कोश' आज साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान रखता है। पत्रिका का प्रकाशन माधवराव-सप्रे स्मृति समाचार पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में हिन्दी पत्रकारिता, साहित्य जगत की जनसंचार एवं विज्ञान संचार की सारगर्भित स्तरीय सामग्री को ही प्रस्तुत किया जाता है। अभी हाल ही में इस महत्त्वपूर्ण पत्रिका को पाठकों हेतु ऑनलाइन कर दिया गया है, अब देश-विदेश में बैठे पाठक इस महत्त्वपूर्ण पत्रिका को इसकी बेवसाइट www.anchalikpatrakar.com पर भी देख एवं पढ़ सकते हैं। बेवसाइट पर पत्रिका के कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषांक एवं वर्ष 2018 में प्रकाशित अंकों को डाला गया है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 25 रु. व वार्षिक 250 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-4272590, 2763406.

ग्राम्य कलाओं, परम्पराओं, वाचिकता एवं अन्य संस्कृति रूपों पर केन्द्रित चौमासिक पत्रिका 'चौमासा' का प्रकाशन आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल द्वारा वर्ष 1983 से निरन्तर किया जा रहा है। पत्रिका की प्रधान सम्पादिका श्रीमती वन्दना पाण्डेय एवं सम्पादक श्री अशोक मिश्र जी हैं। पत्रिका के कुछ अंक विशिष्ट विषय पर आधारित विशेषांक के रूप में भी प्रकाशित किए गए हैं। पत्रिका के 58 अंक से लेकर 99 अंक तक पत्रिका की

बेवसाइट www.mptribalmuseum.com पर पाठकों को देखने को मिल जाएँगे। जो पाठक/लेखक लोककला एवं लोक-साहित्य में रुचि रखता हो उनके लिए यह पत्रिका किसी वरदान से कम नहीं है। एक बार इस लोकप्रिय पत्रिका को पाठकों द्वारा देखा जाना उचित होगा। पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 20 रु., वार्षिक 50 रु. एवं आजीवन सदस्यता शुल्क 1500 रु. है। 'चौमासा' पत्रिका के साथ एक अन्य पत्रिका 'अनुषंग' पत्रिका का प्रकाशन भी आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल द्वारा किया जाता है। 'चौमासा' पत्रिका के साथ 'अनुषंग' पत्रिका के भी कई अंक पत्रिका की बेवसाइट पर देखने को मिल जाएँगे। 'चौमासा' का वार्षिक शुल्क 'अनुषंग' पत्रिका के साथ 100 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-2661948/2661640 मो. 9827351093.

www.pragatisheelvasudha.blogpost.in पद पर 'प्रगतिशील वसुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। पिछले कई वर्षों से बेवसाइट पर पत्रिका का प्रकाशन बन्द है। अपनी प्रथम आवृत्ति में 'वसुधा' का मासिक प्रकाशन जबलपुर से मई 1956 में प्रारम्भ हुआ उसके सम्पादक सर्वश्री रामेश्वर गुरु और हरिशंकर परसाई हुए। पत्रिका का सम्पादकीय आलेख हमेशा परसाई जी ही लिखते रहे। मार्च-अप्रैल 1958 का अंक संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित हुआ और मई 1958 में तीसरे वर्ष का पहला अंक, अन्तिम होकर रह गया। 25 वर्ष बाद 1982-83 में मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ ने अपनी आवश्यकता को महसूस करते हुए भोपाल से श्री राजेश जोशी के सम्पादन में पूर्व से ही प्रकाशित हो रही अनियतकालीन पत्रिका 'इसलिए' के प्रकाशन की जिम्मेदारी ली। राजेश उसके सम्पादक थे ही, परसाई जी ने प्रधान सम्पादक की जिम्मेदारी सँभाली।

वर्ष 1985 के शुरू होते-होते एक बार फिर परसाई जी ने ही 'वसुधा' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव संगठन के साथियों के सामने रखा। उन्होंने ही अपने पूर्व सम्पादन सहयोगी श्री रामेश्वर गुरु के परिजनों से मिलकर इस टाईटिल के उपयोग के लिए सहमति प्राप्त की। सम्पादक कार्यालय भोपाल में बना और संगठन ने सम्पादन से सम्बन्धित कार्यों के लिए श्री धनंजय वर्मा से सहमति प्राप्त की। प्रधान सम्पादक श्री हरिशंकर परसाई के साथ इस बार एक लम्बा-चौड़ा सम्पादक मण्डल भी था, जिसमें सर्वश्री हरिनारायण व्यास, रमाकान्त श्रीवास्तव, धनंजय वर्मा, ज्ञानरंजन मलय, कमला प्रसाद, भगवत रावत, राजेश्वर सक्सेना, ललित सुरजन और शशांक जैसे रचनाकार शामिल हुए। पत्रिका का प्रबन्धन वैसे तो सामूहिक जिम्मेदारी से ही होना था लेकिन प्रबन्ध सम्पादक के रूप में राजेन्द्र शर्मा का नाम दिया गया। पहले अंक का मुद्रण दायित्व रायपुर में श्री ललित सुरजन ने सँभाला। लेकिन 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' की तर्ज पर पहला अंक संयुक्तांक (एक-दो, मई 1985) के रूप में ही प्रकाशित हो सका।

पत्रिका के अनियतकालिक रूप से प्रकाशित होने की सूचना के साथ ही नोट लगाया गया—''तकनीकी कारणों से मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा अब 'इसलिए' के स्थान पर अस्थायी रूप से 'वसुधा' का प्रकाशन किया जा रहा है। जिन ग्राहकों का वार्षिक शुल्क 'इसलिए' के लिए बाकी है, उन्हें अब 'वसुधा' भेजी जा रही है।'' इन तथाकथित 'तकनीकी कारणों' को हमारे पाठकों-ग्राहकों ने तो स्वीकार कर लिया लेकिन विज्ञापनदाताओं ने, खासतौर पर सरकारी विभागों ने कभी स्वीकार नहीं किया। यह 'अन्त' नहीं, मुश्किल से भरी एक महत्त्वाकांक्षी यात्रा की शुरुआत थी। यह यात्रा जीरो बजट से नहीं, माइनस बैलेन्स से शुरू हुई।

'वसुधा' का अंक तीन-चार एक बार फिर संयुक्तांक के ही रूप में अक्टूबर 1985 में प्रकाशित हुआ। बृहदाकार सम्पादक मण्डल की मौजूदगी में श्री धनंजय वर्मा ने सम्पादन की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी पूरी तरह से सँभाली और इस अंक को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जन्मशताब्दी के अवसर पर उनके अवदान पर केन्द्रित एक महत्त्वपूर्ण विशेषांक के रूप में संयोजित किया। सिलसिला चल पड़ा था। यह सिलसिला मई 1989 तक कुछ और संयुक्तांकों के साथ (अंक 17-18) मजे से चल रहा था। इस दरमियान सम्पादक मण्डल के आपसी समन्वय जैसे कठिन कर्म के साथ, सामग्री संयोजन की सारी जिम्मेदारी श्री धनंजय वर्मा अपनी पूरी क्षमता के साथ निभा रहे थे। फैज अहमद फैज पर केन्द्रित अंक (अंक 13-14) पूरी तौर पर उन्हीं की परिकल्पना और श्रम का परिणाम था।

'वसुधा' इस अंक के माध्यम से हिन्दी के साथ-साथ उर्दू में भी समूची सामग्री को ज्यों-की-त्यों एक साथ एक-सी गरिमा के साथ प्रस्तुत करने वाली देश की पहली पत्रिका थी। परसाई जी ने ही नहीं, पूरे संगठन ने उन पर विश्वास किया था और उन्होंने भरसक उस विश्वास की रक्षा की। पत्रिका के सम्पादकीय आलेखों को सम्पादक मण्डल के सदस्यों से क्रमवार लिखवाने जैसे कई अन्य निर्णयों की अव्यावहारिकता के वावजूद, रक्षा की।

मई 1989 के बाद उन्नीसवें अंक से मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के गुना अधिवेशन में लिए गए एक निर्णय के अनुसार संगठन के अध्यक्ष और महासचिव को पत्रिका में पदेन सम्पादक के रूप में नियुक्त किया गया। नव नियुक्त सम्पादकद्वय सर्वश्री भगवत रावत और रमाकान्त श्रीवास्तव की सहायता के लिए पुनः एक सम्पादक मण्डल के गठन का प्रस्ताव भी किया गया। यह वह समय था जब पुनरुत्थानवादी नारों के बीच साम्प्रदायिक राजनीति के द्वारा पूरे देश में मध्ययुगीन प्रतीकों के साथ युयुत्सु रथयात्राओं का आयोजन-प्रयोजन किया जा रहा था।

वर्ष 1993 की शुरुआत में मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ ने शहडोल में सम्पन्न हुई अपनी बैठक के निर्णयानुसार श्री कमला प्रसाद जी को सम्पादन की जिम्मेदारी सौंपी। कमला प्रसाद जी उन दिनों अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा

में पदस्थ थे। उन्होंने रीवा से ही डॉ. सेवाराम त्रिपाठी और विजय अग्रवाल को अपना सहयोगी बनाया। प्रबन्ध सम्पादक के रूप में इलाहाबाद में परिमल प्रकाशन के स्वामी शिवकुमार सहाय को जोड़ा। एक बार फिर 'वसुधा' की यात्रा का अगला चरण शुरू हुआ। पूर्व उदाहरण के अनुरूप ही इस यात्रा की शुरुआत भी संयुक्त अंक (अंक 24-25) से हो रही थी। लेकिन अगला ही अंक कमला प्रसाद जी ने महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की जन्मशती पर उनके अवदान पर केन्द्रित किया। रीवा में उन्हें आशीष त्रिपाठी, दिनेश कुशवाह जैसे युवा सहयोगी मिले और शीघ्र ही खैरागढ़ से आकर श्री रमाकान्त श्रीवास्तव ने इस जुझारू दल में अपनी आमद दर्ज करा दी। 'वसुधा' को अपने पाँव टिकाने के लिए ठोस जमीन मिलना शुरू हो गई है।

रीवा से यह प्रकाशन चालीसवें अंक तक निर्बाध ढंग से चला। इस बीच समकालीन हिन्दी कहानी और नवें दशक की युवा कविता पर केन्द्रित बहुचर्चित विशेषांकों को क्रमशः महेश कटारे और कुमार अम्बुज के अतिथि सम्पादन में प्रकाशित किया गया। इनका आज ऐतिहासिक महत्त्व है। इकतालीसवें अंक के दौरान कमला प्रसाद जी विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर अस्थायी रूप से सतना आ गए और फिर उनके स्थायी रूप से भोपाल आने पर बयालीसवें अंक से वसुधा कार्यालय भी भोपाल स्थानान्तरित हो गया। पैंतालीसवें अंक तक रीवा के साथियों ने ही इस कार्य में यथासम्भव सहयोग किया। छियालीसवें अंक में वर्ष 1999 से सम्पादन सहयोगी के रूप में एक बार फिर राजेन्द्र शर्मा को शामिल होने का अवसर मिला।

कमला प्रसाद जी ने वसुधा के 'आधुनिक उर्दू साहित्य', 'जम्मू कश्मीर का समकालीन रचना संसार', 'समकालीन मराठी साहित्य', 'दलित-विमर्श', 'स्त्री-विमर्श', '1857 का महासंग्राम', 'युवा हिन्दी कहानी' जैसे विषयों के अतिरिक्त डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह के आलोचना कर्म का महत्त्व जैसे विषयों पर वसुधा के विशेषांकों के साथ उन्होंने 'इजलाल मजीद', 'मंजूर एहतेशाम', 'अग्निशेखर', 'चन्द्रकान्त पाटिल', 'पुन्नी सिंह', 'लीलाधर मंडलोई', 'अरविन्द जैन', 'अरुण कुमार', 'जयनन्दन', 'विश्वनाथ त्रिपाठी', 'अरुण प्रकाश', 'सुधीर रंजन सिंह' जैसे सुधी अध्येताओं को जोड़ लिया। उनकी कुछ परिकल्पनाएँ जैसे समकालीन बाँग्ला और मलयालम साहित्य पर केन्द्रित 'वसुधा' के अंक आज भी अधूरी है। तकनीकी कारणों से 'वसुधा' के 'टाईटिल' सम्बन्धी दस्तावेजों की खोज में पता चला कि रजिस्ट्रार ऑफ न्यूज पेपर्स इन इण्डिया के दफ्तर में इसे वर्षों पहले निरस्त किया जा चुका है और अब नए सिरे से पंजीकरण कराने पर 'वसुधा' को 'प्रगतिशील वसुधा' नाम से नया टाइटिल मिला। अवधि बाकायदा घोषित हुई—त्रैमासिक। सो इसी नाम से 'वसुधा' का तिरेसठवाँ अंक 'प्रगतिशील वसुधा' के पहले अंक के रूप में जनवरी-मार्च 2005 में प्रकाशित हुआ। स्वयंप्रकाश जी इसी अंक से जुड़े। सुशील कुमार, कुमार अम्बुज, मोहन सगोरिया, हरप्रसाद शर्मा जैसे मित्रों ने 'वसुधा' को समय-समय पर अमूल्य सहायता दी। और

इस तरह अक्टूबर-दिसम्बर 2010 में अंक 87 के प्रकाशन तक की विगत अभी ताजा ही है।

अंक 96 से वरिष्ठ कथाकार रमाकान्त श्रीवास्तव 'प्रगतिशील वसुधा' के सम्पादकीय दल में पुनः शामिल हो गए है। धीरे-धीरे ही सही, कुछ नए युवा साथी भी सामने आएँगे और वे इस कार्यभार को सँभालेंगे। यह अब एक पत्रिका मात्र नहीं है, एक विचार है। वर्तमान में पत्रिका के सम्पादक स्वयं प्रकाश एवं राजेन्द्र शर्मा हैं, जो अपनी बेहतरीन सम्पादन से इस पत्रिका का कलेवर खूबसूरत बनाए हुए हैं। पत्रिका में आलोचनात्मक आलेखों के साथ-साथ कविताएँ, कहानी, पुस्तक चर्चाएँ, सामयिकी आदि के तहत बेहतरीन जानकारी पाठकों को उपलब्ध करवाई जाती है। इस ब्लॉकपोस्ट पर पत्रिका के नए-पुराने अंकों को पी.डी.एफ. फाइल के रूप में पाठकों के लिए रखा गया है। इस पत्रिका का प्रिन्ट रूप में मासिक शुल्क 50 एवं वार्षिक 250 रुपए है। दूरभाष क्रमांक-मो.09425392954, 9425018290.

समकालीन लेखन के लिए साहित्यिक एवं सामयिकी की त्रैमासिक पत्रिका 'प्रेरणा' है, इसके सम्पादक श्री अरुण तिवारी जी हैं, जो पत्रिका में सारगर्भित सामग्री पाठकों को उपलब्ध करवाते हैं। इस पत्रिका में सारगर्भित आलेख, कविताएँ, पुस्तक चर्चाएँ, लघुकथाएँ, कहानी एवं लघु पत्रिकाओं की विस्तृत जानकारी पाठकों के लिए आकर्षण का केन्द्र होती है। इस पत्रिका का प्रिण्ट रूप में त्रैमासिक शुल्क 20 रुपए और वार्षिक 100 रुपए है। दूरभाष क्रमांक-0755-2422109/4075731 मो. 09826282750.

'शिवम्'—यह एक मासिक पत्रिका है, पत्रिका का प्रकाशन कोलार रोड, भोपाल से होता है। पत्रिका के सम्पादक निरुपम तिवारी हैं। पत्रिका का मासिक शुल्क 15 रु. एवं वार्षिक 180 रु. है। दूरभाष नं. 09425649435.

'अक्षरशिल्पी'—त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन एम.पी. नगर, भोपाल से किया जाता है। इस त्रैमासिक पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सुषमा गजपुरे जी हैं। पत्रिका साहित्य की समस्त विधाओं को प्रस्तुत करती है। पत्रिका अपने विशेषांकों को लेकर भी चर्चित है। इस पत्रिका ने पिछले वर्षों में कई कालजयी रचनाकारों को लेकर विशेषांक प्रकाशित किए हैं जो साहित्य-जगत् की अनमोल निधि हैं। पत्रिका का त्रैमासिक शुल्क 20 रु. एवं वार्षिक 75 रु. है। दूरभाष नं. 09826014024.

मध्य प्रदेश हिन्दी प्रचार समिति की द्वैमासिक पत्रिका का शीर्षक 'अक्षरा' है जो हिन्दी भवन, भोपाल से प्रकाशित होती है, पत्रिका के प्रधान सम्पादक डॉ. कैलाशचन्द्र पन्त जी हैं एवं पत्रिका की सम्पादिका डॉ. सुनीता खत्री जी हैं। पन्त जी आज भी पत्रिका का कलेवर बनाए रखने में पूर्णतः सफल हुए हैं। पत्रिका के शोध आलेख किसी भी शोधार्थी के लिए बहुमूल्य साबित हो सकते हैं। पत्रिका का द्वैमासिक शुल्क 25 रु. एवं वार्षिक 150 रु. है। दूरभाष नं. 0755-2660909.

'समय के साखी'—यह भी एक मासिक पत्रिका है जिसकी सम्पादिका आरती जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन अरेरा कॉलोनी, भोपाल से किया जाता है। पत्रिका का मासिक शुल्क 20 रु. एवं वार्षिक 250 रु. है। दूरभाष नं. 09713035330.

'समरलोक'—यह साहित्य की त्रैमासिक पत्रिका है, पत्रिका की सम्पादिका वरिष्ठ रचनाकार डॉ. मेहरून्निसा परवेज हैं। पत्रिका का प्रकाशन शाहपुरा, भोपाल से होता है। पत्रिका के कई विशेषांक आज भी चर्चित हैं। पत्रिका का त्रैमासिक शुल्क 20 रु. एवं वार्षिक 100 रु. है। दूरभाष नं. 0755-2430210.

'मीडिया विमर्श'—जनसंचार के सरोकारों पर केन्द्रित त्रैमासिक पत्रिका है जो सही मायने में मीडियाकर्मियों के आत्मचिन्तन और आत्ममन्थन का प्रकल्प बन गई है। पत्रिका में मीडिया, फिल्मों आदि से सम्बन्धित सामग्री को प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता है। पत्रिका के सम्पादक डॉ. संजय द्विवेदी हैं। पत्रिका का त्रैमासिक शुल्क 50 रु. एवं वार्षिक 200 रु. है। दूरभाष नं. 09893598888.

'सुखनवर'—यह उर्दू-हिन्दी की द्वैमासिक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक अनवारे इस्लाम हैं। पत्रिका का प्रकाशन अशोका गार्डन, भोपाल से किया जाता है एवं पत्रिका का द्वैमासिक शुल्क 25 रु. एवं वार्षिक 170 रु. है। दूरभाष नं. 09893663536.

'पूर्वग्रह'—यह साहित्य की आलोचनात्मक त्रैमासिक पत्रिका है। पत्रिका के प्रधान सम्पादक रामेश्वर मिश्र 'पंकज' है। पत्रिका का प्रकाशन श्यामला हिल्स, भोपाल से किया जाता है। पत्रिका में वरिष्ठ कथाकारों के आलोचनात्मक लेख पत्रिका की गरिमा को बढ़ाते हैं। पत्रिका का त्रैमासिक शुल्क 25 रु. एवं वार्षिक 100 रु. है। दूरभाष नं. 0755-2660239.

'शब्दशिल्पियों के आस-पास'—यह एक मासिक पत्रिका है। पत्रिका साहित्य जगत में घट रही घटनाओं को प्रमुखता से प्रकाशित करती है जो पाठकों के लिए संजीवनी का काम करती है। पत्रिका के सम्पादक श्री राजुरकर राज जी हैं। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य पाँच रु. एवं वार्षिक साठ रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-2775129 मो. 9425007710, 9713818129, 9479377110.

'दिव्यालोक'—यह एक मासिक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक श्री जगदीश किंजल्क जी हैं। दूरभाष क्रमांक-0755-2494777 मो. 9977782777.

'रंग संस्कृति'—यह एक राष्ट्रीय हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका है, पत्रिका का प्रकाशन कोलार रोड, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका की सम्पादिका वन्दना अत्रे जी हैं। पत्रिका में प्रकाशित साहित्यिक सामग्री रोचक होती है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 25 रु. व वार्षिक 100 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-2495707 मो. 09424410981.

'पहला अन्तरा'—यह साहित्य और संस्कृति पर केन्द्रित त्रैमासिक पत्रिका है, इस पत्रिका का प्रकाशन चूना भट्टी, कोलार रोड, भोपाल म.प्र. से किया जा रहा है।

वर्तमान में पत्रिका के प्रबन्ध सम्पादक श्री इन्द्रजीत पबरा एवं सम्पादक श्री नरेन्द्र दीपक जी हैं। पत्रिका में सम्पादकीय, प्रसिद्ध कवि नीरज का पृष्ठ, स्मरण, शोध आलेख, रिपोर्ट, कहानी, उपन्यास अंश, व्यंग्य, गीत, गीतिकाएँ, दोहे, स्तम्भ : मनवा रे आदि के तहत प्रस्तुत सामग्री पत्रिका को खूबसूरत बनाती है। पत्रिका का प्रमुख आकर्षण ज्योत्सना प्रवाह का 'स्तम्भ मनवा रे' है। यह स्तम्भ पाठकों के बीच बहुत लोकप्रिय हो रहा है, इसे बहुत चाव से पढ़ा जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 50 रु. एवं आजीवन सदस्यता शुल्क 1500 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-2463873 मो. 09425011510.

'साक्षात्कार'—यह साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् का मासिक पत्र है जिसका प्रकाशन संस्कृति भवन, वाणगंगा, भोपाल से किया जाता है एवं पत्रिका के सम्पादक प्रो. उमेश कुमार सिंह जी हैं। पत्रिका में बातचीत, संस्मरण, लेख, कविता, उपन्यास अंश, कहानी, गीत, गजल, अनुवाद, लघुकथा, ललित निबन्ध एवं पुस्तक समीक्षा के तहत पठनीय सामग्री पाठकों को प्रस्तुत की जाती है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 25 रु. व वार्षिक 250 रु. है। दूरभाष क्रमांक-9755-2554782, 2760486.

'रिसाला-ए-इन्सानियत'—यह एक मासिक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक श्री एहतेशाम वाजिद 'आजाद' जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन जहाँगीराबाद, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में मुख्यतः कविताओं को प्रकाशित किया जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 50 रु. एवं वार्षिक 200 रु. है। दूरभाष क्रमांक-09425377323, 09981610639.

'कर्मवीर'—यह पत्रिका वर्ष 1920 से प्रकाशित हो रही है, जिसका प्रथम पड़ाव जबलपुर था। जहाँ से इसका पहला अंक दिनांक 17/01/1920 को प्रकाशित हुआ। इसके बाद पत्रिका द्वितीय पड़ाव के रूप में खण्डवा से प्रकाशित होने लगी, जहाँ से इसका अंक दिनांक 04/04/1925 को प्रकाशित हुआ। वर्तमान में पत्रिका माधवराव सप्रे स्मृति समाचार-पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान, भोपाल से प्रकाशित हो रही है। यहाँ से पत्रिका का पहला अंक दिनांक 01/08/1997 को प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका के संस्थापक सम्पादक श्री माखनलाल चतुर्वेदी एवं श्री बृजभूषण चतुर्वेदी जी रहे हैं। वर्तमान में पत्रिका के सम्पादक-प्रकाशक श्री विवेक श्रीधर जी हैं, जो अपनी पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ प्रत्येक माह को इस मासिक पत्रिका को प्रकाशित कर रहे हैं। पत्रिका में विज्ञान, साहित्य, खेल एवं विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों के तहत स्तरीय सामग्री को प्रस्तुत किया जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 15 रु. एवं वार्षिक 150 रु. हैं। दूरभाष क्रमांक-0755-2552868, 4272590.

'रचना'—यह एक उच्च शिक्षा का शैक्षिक, सांस्कृतिक और रचनात्मक प्रतिबिम्ब है। पत्रिका का प्रकाशन द्वैमासिक है। पत्रिका के सम्पादक श्री सुरेन्द्र बिहारी गोस्वामी

जी हैं एवं पत्रिका का प्रकाशन मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में ज्यादातर शोध आलेखों को वरीयता दी जाती है। पाठकों के लिए ये आलेख पठनीय होते हैं। इस महत्त्वपूर्ण पत्रिका की वार्षिक सदस्यता 120 रु. मात्र है जो हर लिहाज से स्वागत योग्य है। दूरभाष क्रमांक-0755-2553084 मो. 09425012360.

'कलाश्री'—यह साहित्य, संगीत एवं कला को समर्पित हिन्दी की मासिक पत्रिका है। पत्रिका के सम्पादक डॉ. गौरीशंकर शर्मा 'गौरीश' जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन दयानन्द चौक, जुमेराती, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में कविताएँ, दोहे, विभिन्न शोध आलेख, व्यंग्य, कहानी, लघुकथाएँ, गजलें आदि पत्रिका के मुख्य तत्त्व हैं। इस महत्त्वपूर्ण पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 22 रु. वार्षिक 240 रु. आजीवन 2000 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-2530144 मो. 09993361729.

'नीतिमार्ग'—यह एक सहभागी लोकतन्त्र के लिए समर्पित पाक्षिक पत्रिका है। पत्रिका के प्रधान सम्पादक श्री जयन्त वर्मा एवं प्रबन्ध सम्पादक श्रीमती स्नेहलता वर्मा जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन रेतघाट, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में समसामयिक जानकारी के साथ साहित्यिक चर्चा को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 10 रु. वार्षिक 360 रु. एवं आजीवन 3500 रु. है। दूरभाष क्रमांक-मो. 09425151871, 09827355497.

'चरैवेति'—यह पं. दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने वाली मासिक पत्रिका है। पत्रिका के प्रधान सम्पादक श्री जयकृष्ण गौड़ एवं सम्पादक श्री जयराम शुक्ल जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन पं. दीनदयाल परिसर, अरेरा कॉलोनी, भोपाल से किया जा रहा है। पत्रिका में साहित्यिक जानकारी के साथ समसामयिक घटनाओं को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 10 रु. है। दूरभाष क्रमांक-0755-4276934, 2463118.

'साधना सिद्धि विज्ञान'—यह एक धार्मिक विषयों पर केन्द्रित मासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का उद्देश्य आध्यात्मिक चेतना जागृत कर पाठकों को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाना है। तथा साधना, जप, तप, योग, ध्यान, प्राणायाम जैसी सनातन पद्धतियों की उपयोगिता तथा जीवन में इसकी महत्ता को पाठकों तक पहुँचाना है ताकि वे इनका अधिक-से-अधिक लाभ ले सकें। वर्तमान में पत्रिका की सम्पादिका डॉ. साधना सिंह एवं उप-सम्पादक श्री अजय सिंह जी हैं। पत्रिका का प्रकाशन एम.पी. नगर, भोपाल से किया जा रहा है। इस पत्रिका की एक प्रति का मूल्य 20 रु. व वार्षिक सदस्यता 220 रु. डाक व्यय सहित है। दूरभाष क्रमांक-0755-4269368, 4283681, 4221116 मो. 09425151871, 09827355497.

'शिवांशु दर्पण'—यह श्री महेश्वरी समाज भोपाल 'वृहद' का मुखपत्र है। पत्रिका के सम्पादक श्री ओ.पी. साबू संस्थापक सम्पादक श्री रामस्वरूप गट्टानी हैं।

पत्रिका में प्रमुखतः महेश्वरी समाज से सम्बन्धित चर्चा, बहस एवं समसामयिक जानकारी को प्रकाशित किया जाता है। पत्रिका का प्रकाशन अरेरा कॉलोनी, भोपाल से किया जा रहा है। दूरभाष क्रमांक-मो. 07489950034, 07746846823.

'ओपन आई न्यूज'—पत्रिका के प्रधान सम्पादक श्री रमेश शर्मा एवं सलाहकार सम्पादक डॉ. के.के. चौबे जी हैं। पत्रिका में समसामयिक जानकारी ही प्रकाशित की जाती है जिसमें पर्यावरण, राजनीतिक हलचल, रियल स्टेट कारोबार आदि के तहत रोचक जानकारी पत्रिका की प्रमुख खूबी है। पत्रिका का प्रकाशन एम.पी. नगर भोपाल से किया जा रहा है। दूरभाष क्रमांक-0755-2553855, 2620326 मो. 09926318161. 09425015787.

समग्रतः कहा जा सकता है कि भोपाल में हिन्दी पत्रकारिता का उज्ज्वल भविष्य है जो वर्तमान में प्रकाशित छोटी-बड़ी पत्रिकाओं के द्वारा जाना जा सकता है। आलेख का आशय भारतवर्ष में फैले हजारों-लाखों पाठकों तक भोपाल मध्य प्रदेश की सांस्कृतिक छटा के रूप में विद्यमान इन पत्रिकाओं से परिचय कराना था, ताकि वे भी जान सकें कि मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल से भी विश्व-स्तर की पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। आलेख में भविष्य में भी त्रुटि सुधार की सम्भावना बनी रहेगी, क्योंकि हिन्दी पत्रकारिता निरन्तर बहने वाली एक ऐसी धारा है जिसमें रोजाना कुछ-न-कुछ घटता व बढ़ता रहता है। चूँकि आलेख में प्रयास किया गया है कि सम्पूर्ण पत्रिकाओं की जानकारी पाठकों को एक जगह दे दी जाए फिर भी कुछ पत्रिकाएँ इनके अलावा भी प्रकाशित हो रही हों जिन पर इन पंक्तियों के लेखक का ध्यान न गया हो। अगर कोई सुधी पाठक इसकी जानकारी मुझे दे सकेगा तो अत्यधिक खुशी होगी।

लोक जगत में जगतीकरण की सेंध

डॉ. श्यामबाबू शर्मा

'पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि'

महात्मा कबीर की स्पष्ट घोषणा है कि वे वेदों, धर्म ग्रन्थों और पोथियों को यह महत्त्व नहीं देते जो तरजीह लोक से प्राप्त ज्ञान को। और यह उनका लोकवेद सर्वोपरि। लोक के प्रवाह में जो सहज निर्मलता और ताजगी होती है वह अनायास उसकी भाषा, साहित्य और लोक को भी प्राप्त होती है। मानव के उन्नयन और उसके गरिमापूर्ण जीवन की चरितार्थता में अतएव उसकी भूमिका निर्विवाद है। वेद-पुराण और स्मृति ग्रन्थों की दुहाई देने वाले बाबा तुलसी भी वेद मत के साथ लोकमत को समान्तर स्थान देते हैं। चित्रकूट की महासभा में विद्वान पण्डित, राजनीतिज्ञ, माताएँ और अयोध्या का जनमानस राम को वापस चलने की प्रार्थना अपने-अपने तरीकों से करता है। परन्तु...'राम ते अधिक राम का नामू'। पिता की आज्ञा का उल्लंघन...? भरत की भ्रातृभक्ति एवं उनके चरम त्याग के वशीभूत मुनि वशिष्ठ को उनके अयोध्या वापस लौटने के लिए वेदों के दर्शन के साथ साधुमत और लोकमत के अनुसरण का परामर्श देना पड़ता है—

भरत विनय सादर सुनिअ करिअ विचार बहोरि
करब साधुमत लोकमत नृपनयन निगम निचोरि॥ (अयो. दो. 258)

इतना आदरणीय सम्माननीय हमारा यह लोक, सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की गंगोत्री सदृश निस्सन्देह आज नाना प्रदूषणों, अपवर्जकों और जहरीले आयातित, डेबिटेड रसायनों से ग्रस्त होता जा रहा है। भोगवाद के अन्धानुकरण से अपवित्र लोक के अनेक स्रोतों में अर्थ केन्द्रीयता की भूमिका पर विचार करना सामयिक सन्दर्भ बन चुका है।

* सम्पर्क : 85/1, अन्जलि काम्पलेक्स, शिलांग (मेघालय) 793001, मो. 9863531572
ई-मेल : lekhakshyam@gmail.com

'लोक आनन्दाः च मोदाः च मुदाः च मुदः प्रमुदः आसते। (ऋग्वेद 9वाँ मण्डल-7,9,11) आनन्द मोद और प्रमुद की आप्त मनः अवस्थाओं में लोक की विद्यमानता है। 'लोक' शब्द एक विराट समाज की ओर संकेत करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह लोक परिष्कृत होता है और स्वाभाविक जीवन जीते हुए श्रम के बलबूते उत्पादन करता हुआ दूसरों का भरण-पोषण करता है। इसका सीधा सम्बन्ध जीवन से है। प्रकृति और परिवेश से ही उर्वर जुझारूपन और शक्ति ग्रहण करता मांगलिक परिवेश का निर्माण करता है। जीवन को नश्वर मानते हुए भी यह उसे अन्यात्मक नहीं मानता।

कुछ वर्ष पूर्व 'वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो' की माँग के साथ असन्तोष और आक्रोश की आग स्पेन, फ्रांस और ब्रिटेन होती हुई पूँजीवाद के गढ़ अमेरिका तक जा पहुँची। 'वॉल स्ट्रीट' अर्थात् दुनिया का सबसे मशहूर और ताकतवर शेयर बाजार। तीसरी दुनिया के देशों में भी अपने-अपने ढंग से इसके पर्यायों पर निशाना साधा गया। इसके पहले भी भूमण्डलीकरण के विरोध में आन्दोलन होते रहे हैं परन्तु उनमें शामिल लोग आदर्शवादी या अराजकतावादी के रूप में पहचाने गए। जोड़-घटाना यह कि जिन आर्थिक नीतियों के चलते यह अपना डंका पीटे जा रहा था वे ही सुमधुर के बजाय कनफोड़-विस्फोटक हो गईं। लेकिन तान तो छिड़ चुकी है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुनगुना ही नहीं रही बल्कि जबरदस्त ब्रेक डांस कर रही है। क्या भवन-भाषा और क्या भूषा-भोजन, भजन तक इसकी गिरफ्त में। एक 'ग्लोबल पावर स्ट्रक्चर' हमारी अभ्यस्त जीवन-शैलियों को पूरी तरह बदलने की तैयारी कर रहा है। बिना रक्तपात और रोक-टोक के लूट का दूसरा नाम है—भूमण्डलीकरण। यह छीना-झपटी मात्र भौतिक सुख-सम्पदा और मानवीय संसाधनों तक सीमित रहती तो कदाचित भरपाई करना सहज होता, परन्तु यह बेशकीमती लोक को भी खाए जाते हैं। सांस्कृतिक वैविध्य का विरोधी यह दर्शन हमारी लोक-संस्कृति को दुर्बल करता जा रहा है। इसने संवेदनशीलता और लोक के विचारों का रकबा कम किया है, परन्तु अपने गृह की सुध से परे। 'पर' का आयतन 'स्व' की संकीर्णता में। सांस्कृतिक तहस-नहस को इसने एक सुन्दर खेल बना दिया है। विकास का ढोंगी। मनुष्य तक को प्रोडक्ट और कंज्यूमर में तब्दील करने वाला बहुरूपिया एक तरह का नव उपनिवेशवाद ही है। यह अपना विजय रथ मीडिया, बाजार, विश्व बैंक तथा डब्ल्यू टी ओ आदि अस्त्रों-दिव्यास्त्रों का सन्धान करते आगे बढ़ रहा है।

पूँजी के शातिराना दर्शन में विश्वग्राम की बेहद आकर्षक झाँकी है। विचित्र यह कि—भाई नवीन वसुधैव कुटुम्बकम् की यही अवधारणा है। इतनी गहरी साजिश हमारी सभ्यता-संस्कृति सह रही है, झेल रही है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्।। (महाभारत)

उदारमना सहृदयों के लिए तो यह सम्पूर्ण वसुन्धरा ही परिवार है। उदारवादी चिन्तकों ने इसको अपनी सुविधानुसार अपने पाले के फायदों के लिए रीडिफाइन कर लिया और परिणाम? संस्कृतियों का समन्वय वसुधैव कुटुम्बकम् और इनका सामरिक-वैचारिक दासत्व ही भूमण्डलीकरण है। कहाँ चूके हम कि पंचमकार के अधुनातन वज्रयानी साधक बन गए। रेव की वेवस ने चिन्तन वैचारिकता को काट-छाँटकर चिप में लाकर ही सन्तोष नहीं किया, सेल्फी बना दिया। यात्रा जारी है। जूठन को एडवांस की संज्ञा देने वाले...विद्वजनों को दण्डवत! उदारीकरण से आई उस उधारीय, उधारीय संस्कृति को सैल्यूट जिससे हम मॉडर्न कहलाए। बाहर से चकाचक, अन्दर से स्खलित। सबकुछ...शेष।

नीली रोशनियों की बाँहों में नववधू-सा मुस्कराते बाजार का समय है यह और तमाम प्रतिभाएँ इसकी चाकर-आशिक। हड़पो, झपटो और डपटो नवीन लोक के प्रस्थान बिन्दु हैं। हमारे घरों की सीढ़ियाँ सड़क तक आ गई हैं और लिप्साएँ अपराध तक ये क्या कम प्रगति है! नव वज्रयानी साधक ग्लोबल विलेज की चौखट पर जाप करने पर आमादा हैं। अब हम जीते हैं तो केवल बाजार के लिए और चाहते हैं तो केवल समृद्धि की समृद्धि। हमारा, मूल्यगत पराभव और सांस्कृतिक अस्मिता का लोप इस कदर कि अब हमें याद दिलाया जाता है कि आज मदर्स डे है, फादर्स डे। नवीन त्योहार नवीन रूपों में। कम्पनियाँ मालामाल-विश कीजिए। उसके एक दिन पहले ही सन्देशा कि 'ऑल कॉल्स एण्ड एस.एम.एस. विल बी चार्ज्ड ऐज पर बेस टैरिफ ऑन एकाउण्ट ऑफ ब्लैक डे।' हमें माँ की, पिता की याद दिलाने वाले इतने हितैषी-किसके हमारे या अपने? याद कीजिए कि कभी हमने अपने माता-पिता को यह कहते पाया हो कि मैं तुम्हें...। बच्चों के सामने पूरी मर्यादा होती थी। पीढ़ी परिवर्तन ऐसा कि अब उन्हें प्रायः आँखों की ओट लेनी पड़ जाती है। औपचारिकताओं का अट्टहास कि पति-पत्नी के पवित्र रिश्तों में भी गिफ्ट्स का आदान-प्रदान। सवाल कर दिए जाते हैं कि यह संस्कारों का प्रकटीकरण है तो ऐसे उधारीय संस्कारों को दूर से ही साष्टांग नमस्कार। बचपन में हमारे बाबा-दादा बताया करते थे कि फलाँ से खेत-खलिहान के झगड़े के चलते बात-व्यवहार बन्द था। कभी उनके सबसे पूज्य रिश्तेदार का आगमन हुआ। वे घर भूल गए और चौपारि में बैठे बाबा से पूछा—बात-बतकही में मालूम पड़ा कि ये तो उनके दामाद जी हैं। तुरन्त हाँक लगाई गई कि नातेदार आए हैं। शरबत-पानी आता। और घर के किसी बच्चे को आदेश दे दिया जाता कि 'भइया को उन बाबा के द्वारे पहुँचा आओ-सादर। यह दामाद पूरे गाँव का दामाद होता था। आपसी खींच-तान अपनी जगह और सामाजिक व्यवहार अपने स्थान पर। पड़ोसी की बिटिया विवाह योग्य होती तो चिन्ता होती कि सुयोग्य वर तलाशना है। कहीं पता चलता तो—भइया देख लिया जाए। यह सब आज शायद कहानीनुमा लग रहा हो परन्तु कुछ दिन पहले यही हमारी समृद्धता थी। समृद्ध लोक। अब हमें अपनी खबर नहीं, पड़ोसी तक कैसे पहुँचे?

उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद के कारण जिस तरह सांस्कृतिक, सामाजिक, पारिवारिक मूल्यों का क्षरण हो रहा है उसका मुकाबला साहित्य की प्राचीनता विधा बखूबी कर रही है। नेम, फेम और मनी का जो जुनून इन्सान पर सवार है उसमें एक दूसरे की खैरियत जानने का रुटीन गायब है। इतना एकाकीपन कि–

बाबा को जानता था सारा शहर
पिता को भी चार मोहल्ले के लोग जानते थे
मुझे नहीं जानता मेरा पड़ोसी मेर नाम से
अब सिर्फ एलबम में रहते हैं
परिवार के लोग एक साथ
टूटने की इस प्रक्रिया में क्या-क्या टूटा है
कोई नहीं सोचता।

(दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 55)

अब घर नहीं, मकान हैं। बस्तियाँ नहीं बसतीं। सीमेण्ट के जंगल हैं और उनमें लाशों के झुरमुट। श्रीकान्त वर्मा ने बहुत पहले इस छीजते लोक-जीवन पर चिन्ता व्यक्त की थी। कृत्रिमता और बनावट की बुनावटों में उलझा जन निस्तेज हाँफ रहा है। सब कुछ इतना पास-पास परन्तु–

इतने मकान पास-पास सटे-सटे
मगर प्रेम नहीं
इतना घनत्व
इतनी संकुलता
इतनी एकता
मगर सभी कटे-कटे
सहमति नहीं, भाषा नहीं, प्रस्ताव नहीं
एक साथ उठी हुई मुट्ठियाँ नहीं
केवल क्रौंच-चीख
इतनी समीपता
इतना नैकट्य
इतना सहवास
किन्तु स्पर्श में
पुलक नहीं।

(माया दर्पण, श्रीकान्त वर्मा, पृ. 64)

मुँह उतरे हुए हैं और विश्वयारी की लगाम से हाँकते हुए आयातित संस्कृति से कोड़ा कसने की कोशिशें तेज हैं। भारतेन्दु जी ने कहा था कि परदेशी माल और पदरेशी वस्तु (विचार) पर भरोसा मत करो, लेकिन हम हउसे-फउसे इसकी ओर झपटे जा रहे हैं। 'जहाँ देखी तवा परात वहाँ बिताई सारी रात।' बाजारवाद के कसते शिकंजे तथा समरूपीकरण के चलते पूरी दुनिया में सांस्कृतिक विविधता के विरुद्ध समानता का प्रच्छन्न प्रयास लगता है विश्व बाजार। व्याख्याओं का अधिकार इसके पास है और लोकप्रियता का अचूक, अतिआकर्षक जगत। इस नितान्त बनावटी नवीन लोक में मनुष्य के रन्ध्र-रन्ध्र को संक्रमित करने का मधुर रसायन है। रचनात्मकता और कला के तमाम रूप सिकुड़ते जा रहे हैं। आत्मनिष्ठ, अकेले, संवेदनहीन, स्वार्थ-परायणोन्मुख मनुष्य का सामाजिक थका-थका-सा लगता है। कला में कीमत की बैलेन्सशीट। पहले हम जरूरत पड़ने पर बाजार जाते थे अब बाजार दरवाजे...नहीं घर तक घुस गया है। क्लिक करें डिलिवरी लें फिर विचार कि प्रोडक्ट का यूज कैसे, क्यों, कब, कहाँ? लोक को मिट्टी से उखाड़ दिया है इसने। आयातित इत्र छिड़ककर मदहोश करने का इन्तजाम। हमारा अपना बासी इनका फटाफट वाला फास्ट फूड। हमारे कुएँ, चापाकल दूषित रसायनों के भण्डार, पैक्ड बाटल्ड हाइजीनिक। पारम्परिक पिछड़े, संस्कारों का श्राद्ध करने वाले एडवान्स। अष्टभुजा शुक्ल की पंक्तियाँ याद आ रही हैं–

एक हाथ में पेप्सी कोला
दूजे में कण्डोम
तीजे में रमपुरिया चाकू
चौथे में हरि ओम
कितना ललित ललाम यार है
भारत घोड़े पर सवार है
एड्स और समलैंगिकता की
रहे सलामत जोड़ी
विश्व ग्राम की समता में
हमने सीमाएं तोड़ी। *(स्वप्न भी आते हैं; अष्टभुजा शुक्ल, पृ.77)*

घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के इस दौर में जीवन को शान्ति और सम्बल देने वाली लोक-विधाओं का अनुसरण करने वाला 'पिछड़ा' है। बाजार के सेठों ने इसे अपने ढंग से विज्ञापित किया। मुठभेड़ के बजाय भार्गान्तरीकरण का बढ़िया विकल्प चुना गया। उन्होंने लोक के सहज स्वाभाविक उन्मेष को गलोबल हाट में प्रदर्शनीय बिक्री के एक माल के रूप में बदल दिया जिसकी रचना समूह से इतर भीड़ के आनन्दोल्लास के लिए की जाने लगी। लोक पूँजी के क्षत-विक्षत दागों से कशाय होने लगा। बावजूद इसके कहा जाता रहा...'दाम अच्छे हैं।' सार संक्षेप यह कि लोक का

औद्योगिकरण फल-फूल रहा है। इसकी कलमें मधुर हैं, सुस्वादु हैं। यह दीगर कि इसके साइड इफेक्ट्स ऐसे कि सभ्य समाज उच्चारण नहीं करना चाहता।

प्लूटो की राय थी कि वस्तुगत रूप से अपने आन्तरिक चरित्र में जो चीज सच नहीं है वह मनुष्य के लिए आत्मगत रूप से अच्छी और सच्ची नहीं हो सकती। नग्न स्वार्थ के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और दूसरे सम्बन्धों, सरोकारों का स्पेस कम होना आश्चर्य पैदा नहीं करते। सामूहिकता के ह्रास, विशेषीकरण के अभ्युदय और जीवन के पक्षों के अन्तरावलम्बन के बदलते स्वरूपों ने लोककला के प्रकार्यों के लिए प्रकार प्रकट किए। सामाजिक सुखों, दुःखों को अभिव्यक्त करने वाले विविध पक्षों यथा लोक-नाट्य, लोकनृत्य और लोकगीत को चटख रासायनिक रंगों में सराबोर कर प्रस्तुत किया गया। अब अम्मा के सोहर, लचारी, गारी उन्हीं के साथ विदा हो गए लगते हैं। बिरहा, पचरा, कत्थक, नकटउरा, जात्रा, ललिते, नौटंकी तथा बहुरूपिया, रामलीला, भड़ैती, कठपुतलियाँ कहाँ खो गईं? प्रदर्शनकारी कला या परफार्मिंग आर्ट के समय में हमें दर्शक बनाए रखने के लिए मल्टीप्लेक्स हैं, फार्मूला वन की रेसें हैं, हिंसक पहलवानी के बाहुबलियों का पराक्रम-प्रदर्शन है। भकुआई नजरों से हम इनकी भाटगीरी करते नहीं थक रहे। कुरुचि में रुचि का रसास्वादन। विचलन और उबकाई तक को कैश कराने की कोशिशें—

अम्मा अब तो दुख
बाजार में बिकता है
दुख के खरीददार भी बहुत हो गए आजकल
बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी तक ले जाते हैं
और जिन्हें
सब कुछ खरीदने की आदत
छुटपन से ही पड़ी हुई है
उसको पहले वे खरीदते हैं
फिर थोड़ा काट-छाँटकर
रंग-रोगन से उसकी चुभती-सी आकृति को
दर्शनीय मुद्रा देते हैं।
(अम्मा से बातें और कुछ लम्बी कविताएँ, भगवत राव, पृ. 52)

माता के परसे की, मघा के बरसे की महक...कहाँ है? जीने की सारी कवायदें टेरर मार्केट के विलास में। हम परजीवी और वे वैम्पायर। बड़ा लुटेरा समय है—

छीन लिया है इसने
बच्चे के खिलौने और मासूमियत
दादी की लोरियाँ और किस्से

उत्सवों का उल्लास
स्नेहीजनों का हास-परिहास।

(बाघ दुहने का कौशल, रमण कुमार सिंह, पृ. 31)

जीवन के तमाम व्यापार उग्र-से-उग्रतर होते जा रहे हैं। वाल्टर बेंजामिन ने कहा था कि बर्बरता का इतिहास संस्कृति में नई खोज के लिए जमीन तैयार करता है। हमने पूजा को प्रतिमा से, प्रतिमा को पंडाल से, पंडाल को बिजुरिया चकाचौंध से, चकाचौंध को अश्लील गीतों से, गीतों को कनफोडू संगीत से, संगीत को भौंड़े नाच से, नाच को छिछोरी फब्तियों से, अपमानित किया है। हमारे दशहरे, होलियों, ईद, मुहर्रम, बैशाखियों और दीवालियों पर क्रूरतम प्रहार जारी है। मीडिया तुरही तान देकर इसका पथ प्रशस्त करने वाला साबित हुआ है। बटोरने का संस्कार आज के लोक का लोकाचार बनता जा रहा है। मनुष्य और प्रकृति परिवर्तनशील हैं इसलिए हम यह आशा कर सकते हैं कि हवस और आत्मकेन्द्रित लोक की बर्बरता से हम मानवीय, परोपकारोन्मुख उदात्त लोक की ओर वापस लौटेंगे। पुनः महात्मा कबीर की पंक्तियाँ कौंध रही हैं–

कहाँ बनावत पौरिया लामी भीत उसार।
घर तो साढ़े तीन हाथ घणा तो पौने चार॥

आई.पी.ए. का प्रपंच और हिन्दुस्तानी का बदलता स्वरूप

कृपाशंकर सिंह*

भाषाविकास में एम.ए. का जो पाठ्यक्रम है, उसमें एक विषय ध्वनि विज्ञान का होता है। ध्वनि विकास में भाषा ध्वनि से सम्बन्धित विषय होते हैं, साथ में आई.पी.ए. (इण्टरनेशनल फोनेटिक अल्फाबेट्स - अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि) की जानकारी भी दी जाती है। मुझे याद है ध्वनि ज्ञान के हमारे प्रोफेसर डॉ. अशोक रामचन्द्र केलकर, जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर के भाषावैज्ञानिक रहे हैं, ने हम विद्यार्थियों को फोनेटिक्स लैब में इस आई.पी.ए. के उच्चारण का अभ्यास कई बार कराया था। वह इसलिए कि उच्चारण अंग्रेजी ध्वनियों से थोड़ा हटकर था। हम लोग आई.पी.ए. का महत्त्व केवल इतना ही जान पाए थे कि किसी लिपि-विहीन भाषा की लिपि तैयार करने में उससे मदद मिल सकती थी, और लिपि उच्चरित ध्वनि के निकट की बनाई जा सकती थी। हालाँकि वह लिपि रोमन लिपि (जिसमें अंग्रेजी लिखी जाती है) में मामूली परिवर्तन करके बनाई गई थी।

सतपुड़ा पहाड़ियों के अन्दरूनी भाग में बसने वाली निहाल, जनजाति की भाषा निहाली, जो कोर्कू जनजाति की भाषा से काफी मिलती-जुलती है, के लिए लिपि तैयार करने में मुझे आई.पी.ए. से कोई मदद नहीं मिली। क्योंकि निहाली की ध्वनियों को देवनागरी में बड़ी आसानी से मैं लिख लिया करता था। बाद में आई.पी.ए. में लिखने में कोई कठिनाई नहीं थी। वह इसलिए कि देवनागरी आई.पी.ए. से भी अधिक ध्वन्यात्मक लिपि है।

यह तो मुझे बहुत बाद में पता चला कि आई.पी.ए. के माध्यम से भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि को लागू करने का यह सारा प्रपंच सालों पहले रचा गया था। जैसा कि अभी कहा गया आई.पी.ए. रोमन में ही बहुत मामूली परिवर्तन करके

सी4/86/2 सफदरजंग विकास क्षेत्र, हौजखास, नई दिल्ली-16; मो. 9805476883, 8130782554.

बनाई गई लिपि थी। उसके लिखने का ढंग भी रोमन का ही था। अन्तर इतना ही था कि वह अंग्रेजी की अपेक्षा ध्वनि उच्चारण के अधिक निकट थी। अंग्रेजी ध्वनि का उच्चारण और उसकी लिखावट के सम्बन्ध को तो भ्रष्टतम कहा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में कुछ ब्रिटिश भाषा-वैज्ञानिकों के दिमाग में यह विचार आया कि भारतीय भाषाओं को किसी तरह यदि रोमन लिपि में लिखा जा सके तो उससे अँग्रेजी राज को कई तरह के फायदे होंगे। इससे अँग्रेजों को उन भाषाओं की जानकारी प्राप्त करना बहुत आसान हो जाएगा। दूसरा फायदा यह होगा कि भारतीय धीरे-धीरे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को भूलने लगेंगे। क्योंकि भाषा और लिपि हमारी समस्त अस्मिता के केन्द्र में हैं। अँग्रेजों का राज जिस-जिस देश में रहा जहाँ-जहाँ उन्होंने अँग्रेजी के साथ रोमन लिपि को लागू किया। परिणाम यह हुआ कि उन देशों के लोग हर तरह से अँग्रेजी रंग में रँग गए।

लेकिन भारत के साथ वे ऐसा नहीं कर पाए। क्योंकि देवनागरी लिपि विश्व की सर्वाधिक ध्वन्यात्मक लिपि है। इसलिए उसके स्थान पर रोमन लिपि के स्थानापन्न के रूप में रखना हर तरह से हास्यास्पद होता। हिन्दी-उर्दू, बँगला आदि सभी भाषाओं को रोमन में लिखा जा सके इसके लिए रोमन में कुछ परिवर्तन करना जरूरी था, जिससे भाषाध्वनि के कुछ नजदीक लिपि को लाया जा सके। यह आई.पी.ए. उसी स्कीम के तहत लाई गई थी। और चूँकि आधुनिक-भाषाविज्ञान पर ब्रिटिश और अमरीकी भाषा-वैज्ञानिकों का वर्चस्व है, इसी कारण ध्वन्यात्मक लिपि के नाम पर आई.पी.ए. का ईजाद हुआ, जो रोमन को ही उल्टा-सीधा करके अलग-अलग ध्वनियों के लिए बनाया गया था। जैसे—जैसे अ की जगह 'a' चिह्न, आ के लिए 'a', इ के लिए 'I', ऐ के लिए 'E',ओ के लिए 'O' और औ के लिए 'a' आदि।

जून 1913 में लन्दन से निकलने वाले पत्र 'राजपूत हेराल्ड' में पादरी जे.नोल्स ने 'रीडिंग एण्ड राइटिंग इन इण्डिया' शीर्षक से एक लेख लिखा। लेख में नोल्स ने भारतीयों को उनकी निरक्षरता के लिए काफी लानतें दीं, फिर यह कहा कि भारत में निरक्षता का कारण देवनागरी जैसी लिपि का होना है। यहाँ शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक ही रास्ता है, और वह है यहाँ की भाषाओं को रोमन में लिखा जाए। भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को उपयुक्त बनाने के लिए रोमन में कुछ परिवर्तन की योजना भी उसी लेख में बताई गई है। इसके लिए कुछ ब्रिटिश भाषा-वैज्ञानिकों की एक कमेटी बनाई गई। उस कमेटी ने जो सुझाव दिए वही सुझाव आई.पी.ए. के रूप में है। जिसे भारतीय भाषाओं—(विशेष रूप से हिन्दी और अन्य आर्य-भाषाओं) को दृष्टि में रखकर बनाया गया था।

'सरस्वती' पत्रिका में पादरी नोल्स के इस लेख की प्रतिक्रिया में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अगस्त 1913 में एक लेख लिखा—'नई रोमन लिपि के प्रचार का प्रयत्न'। उसमें उन्होंने लिखा—''पादरी साहब जिसे नेशनल प्रोग्रेस (जातीय यह राष्ट्रीय उन्नति)

कहते हैं, उसका रोमन अक्षरों से क्या सम्बन्ध, यह समझ में नहीं आता। अपना वस्त्र परिच्छद, अपना धर्म, अपनी भाषा और अपनी लिपि के स्वीकार से राष्ट्रीय उन्नति, को सहायता पहुँचती है या बहिष्कार से।''

द्विवेदी जी ने अपने लेख में रोमन लिपि के दोषों को बखूबी गिनाया है, और फिर कहा है कि ''जिस भारत में देवनागरी के सदृश प्रायः निर्दोष वर्णमाला और हिन्दी के सदृश प्रायः निर्दोष भाषा प्रचलित हो, उसमें शिक्षा-प्रचार की वृद्धि के लिए नए रोमन अक्षरों के प्रचार की आवश्यकता बताई जाए? कि माश्चर्य्यमतः परम्!''

उसके भी पहले 1907 में पंजाब प्रान्त की सरकार ने यह आदेश निकाला कि ''पंजाब में लड़कियों के लिए जो प्रारम्भिक मदरसे हैं, उनकी पाठ्य-पुस्तकों आदि में हिन्दी, उर्दू और पंजाबी भाषाएँ लिखने में रोमन अक्षरों का व्यवहार किया जा सकता है।''

उस दौर में पंजाब के ऊँचे तबके में अँग्रेजी राज की चाटुकारिता काफी बढ़ी-चढ़ी थी। अँग्रेजों की चापलूसी का एक सटीक उदाहरण बालकृष्ण भट्ट ने 'भारत मित्र' में एक कविता के रूप में प्रकाशित किया था—

सबके सब पंजाबी अब हैं, लायलटी में चकनाचूर,
सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपुर।
लायल सब वकील बारिस्टर जमींदार और लाला हैं,
म्युनिसिपालिटी वाले तो लायलटी का परनाला हैं
खान बहादुर, राव बहादुर, कितने ही सरदार नवाब,
सब मिल-जुलकर लूट रहे हैं लायलटी का खूब सबाब।
केवल दो डिसलायल थे वो, एक लाजपत एक अजीत,
दोनों गये निकाले उनसे नहीं किसी को है कुछ प्रीत।

(बाल मुकुंद स्मारक ग्रंथ, पृ. 229)

'सरस्वती' के 1928 की सम्पादकीय टिप्पणी से जाहिर होता है कि सरकार के एक आदेश के मुताबिक 'कवायद परेड वगैरह की फौजी पुस्तकों में भाषाएँ तो देशी ही रहेंगी, पर लिपि रोमन हो जाएगी। इस कारण सैनिकों का लगाव अपनी लिपि से छूट जाएगा।'

हिन्दी-उर्दू, पंजाबी आदि भाषाओं के लिए रोमन लिपि को लागू करने का जो प्रपंच अँग्रेजों ने गढ़ा था, उससे जाहिर होता है कि अँग्रेज अपनी सोची-समझी नीति को लागू करने के लिए कैसे-कैसे रास्ते अपनाते थे। जिनके बारे में सामान्य तौर पर सोचा भी नहीं जा सकता। ऐसे ही हथकण्डों को अपनाकर अनेक विजित देशों में उन्होंने अँग्रेजी भाषा और रोमन लिपि को लागू किया था। पर चूँकि भारत की स्थितियाँ दूसरे देशों से भिन्न थीं। यहाँ संस्कृत के सैकड़ों गौरव-ग्रन्थ देवनागरी लिपि

में विद्यमान हैं। दो-चार मामूली अपवादों को छोड़ दें, तो कह सकते हैं कि देवनागरी विश्व की सर्वाधिक ध्वन्यात्मक और सर्वथा दोषमुक्त लिपि है। इसी कारण यहाँ की लिपि का रोमनीकरण नहीं हुआ।

आजकल भाषा के तौर पर हिन्दुस्तानी से जो आशय ग्रहण किया जाता है, उसमें उसके एक ओर मानक हिन्दी है तो दूसरी ओर उर्दू। हिन्दुस्तानी दोनों तटों के बीच में बहने वाली धारा की तरह है। पर पहले ऐसा नहीं था। उसके पहचान-क्रम में कम-से-कम दो अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। इनमें एक अवस्था वह है, जब हिन्दुस्तानी को उर्दू के पर्यायवाची के तौर पर माना जाता था, जिसका हिन्दी से कोई खास रिश्ता नहीं था।

भाषा के तौर पर हिन्दुस्तानी का जोर-शोर से प्रचार 1800 ई. के आस-पास शुरू होता है, जब कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। इसके पहले तो चौदहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो से लेकर अठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी के मीर और गालिब तक के कवियों ने अपनी भाषा को हिन्दवी नाम दिया था।

फोर्ट विलियम कॉलेज में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक कर्मचारी जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी, अर्थात् उर्दू, का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। गिलक्राइस्ट की भाषा सम्बन्धी जो सोच थी, उसके अनुसार, हिन्दुस्तानी और हिन्दी (या हिन्दवी) दोनों दो अलग-अलग जबानें हैं। हिन्दुवी को वे हिन्दुओं की जबान मानते थे, तथा हिन्दुस्तानी और उर्दू को एक मानते थे—समानार्थी के रूप में। इसलिए गिलक्राइस्ट की उर्दू की किताबें हिस्दुस्तानी नाम पर ही हैं, जैसे 'अ ग्रामर आव हिन्दुस्तानी लैंग्वेज', 'हिन्दुस्तानी एक्सरसाइजेज', 'अ डिक्शनरी : इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी' आदि पुस्तकें उर्दू की ही हैं।

गिलक्राइस्ट की एक पुस्तक 'अपेन्डिक्स (टु ग्रामर एण्ड डिक्शनरी, कलकत्ता, 1798) में तीन देशी भाषाओं का उल्लेख किया गया है—हिन्दुवी, हिन्दुस्तानी और संस्कृत। संस्कृत को गिलक्राइस्ट ने मृत भाषा बताते हुए कहा कि यह कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी। हिन्दुवी और हिन्दुस्तानी को उन्होंने बोलभाषा बताया। फिर हिन्दुस्तानी को तीन वर्गों में विभाजित किया—1. उच्च न्यायालयी अथवा फारसी शैली, 2. मध्यम अथवा जेनुइन हिन्दुस्तानी शैली, 3. भ्रष्ट (वल्गर) अथवा हिन्दुवी। यहाँ भी गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी को उर्दू के रूप में ही ले रहे थे। इससे यह भी साफ होता है कि हिन्दवी के बारे में उनकी समझ कितनी हास्यास्पद थी। वैसे गिलक्राइस्ट अँग्रेजी सरकार के बहुत बड़े पौर्वात्य पण्डित कहे जाते थे।

वास्तव में फोर्ट विलियम कॉलेज और गिलक्राइस्ट की भूमिका हिन्दी-उर्दू को अलग-अलग भाषाओं के रूप में प्रोजेक्ट करने में अहम थी। कॉलेज ने अलग-अलग भाषा के रूप में इन्हें परिभाषित करके अलग-अलग खानों में बाँटकर पुस्तकें लिखवाने का काम किया और हिन्दी-उर्दू (हिन्दुस्तानी) को क्रमशः हिन्दू-मुस्लिम कौमों के प्रतीक

के रूप में चित्रित किया। इस तरह अँग्रेज शासकों ने हिन्दी-उर्दू को सम्प्रदायीकरण की भूमिका दी। भारतीय भाषाओं की मनचाही और निहित स्वार्थ को दृष्टि में रखकर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। उर्दू के लिए हिन्दुस्तानी नाम उन्हीं में से एक था।

'हिन्दुस्तानी ग्रामर' जान शेक्सपियर द्वारा लिखित उर्दू व्याकरण की पुस्तक है, जो 1913 में लन्दन से प्रकाशित हुई। 1879 में एस.डब्ल्यू फैलन का कोश 'अ न्यू हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी' बनारस से प्रकाशित हुआ। इसमें फैलन ने लिखा ''मौलवी और पण्डित हिन्दुस्तानी और हिन्दी के सबसे असहज लेखक हैं।'' असहज से फैलन का आशय यह था कि हिन्दुस्तानी (अर्थात उर्दू) लिखने वाले मौलवी और हिन्दी लिखने वाले पण्डित की भाषा में सामान्य जनभाषा से दूर होती जा रही भाषा की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में सर चार्ल्स लायल ने लिखा है कि ''देशी लोग (नेटिव्ज) जिसे उर्दू या उर्दू जबान बोलते हैं, उसी को अँग्रेज हिन्दुस्तानी कहते हैं।''

अँग्रेजी सरकार ने हिन्दी-उर्दू के विद्वान मि.बर्न से 1915 में स्कूलों और विश्वविद्यालय के लिए पाठ्य-पुस्तकों पर राय माँगी थी, बर्न ने अपनी लिखित राय में यह कहा कि—''हिन्दुस्तानी, अर्थात् उर्दू के गद्य-पद्य की भाषा तो एक ही है, पर हिन्दी की नहीं। हिन्दी के पद्य की भाषा में गद्य की भाषा से भेद है।''

इस तरह के बहुत से उदाहरण हैं, जिनसे यह साबित होता है कि अँग्रेजी राज और अँग्रेज लेखकों की दृष्टि में हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क नहीं था। बाद में जो अन्तर किया गया वह लिपि को लेकर था। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती रही, पर हिन्दुस्तानी को लेकर उन्होंने अपनी नीति में थोड़ा परिवर्तन किया और हिन्दुस्तानी ऐसी जबान के रूप में परिभाषित की गई, जिसे फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में लिखा जाए।

नवम्बर 1900 में पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के लेफ्टिनेट गवर्नर सर एण्टनी मेक्डानेल द्वारा इन प्रान्तों की कचहरियों और अँग्रेजी ऑफिसों को छोड़कर दूसरे दफ्दरों में प्रार्थना-पत्रों और अर्जी दावों को देने के लिए देवनागरी का जो प्रावधान किया गया था उसमें हिन्दी भाषा को स्वीकार करने की बात नहीं कही है। उसका आशय केवल नागरी लिपि से था। दूसरी बात यह है कि उसमें जो 'हिन्दुस्तानी' शब्द आया है, उसका आशय उर्दू से है। आदेश में कहा गया—''...सन् 1837 के नवम्बर मास में एक कानून भी स्वीकार किया गया था। उसके दो वर्ष के पश्चात् सदर दीवानी अदालत ने अपने अधीन के सब न्यायालयों में हिन्दुस्तानी अर्थात् उर्दू के प्रचार के लिए आज्ञा दी थी। यह आज्ञा केवल उर्दू भाषा के विषय में थी, अक्षरों के विषय में नहीं थी।''

''सम्पूर्ण मनुष्य प्रार्थना-पत्रों और अर्जीदावों को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार नागरी या फारसी के अक्षरों में दे सकते हैं।''

सरकार जहाँ कहीं भी हिन्दी की बात करती थी, वहाँ इससे उसका आशय नागरी लिपि से होता था, फिर भले ही देवनागरी लिपि में अरबी-फारसी के शब्द ठूँसे हुए हों।

इसके बावजूद पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के मुसलमानों में इस आदेश की तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। सर्कुलर के विरोध में 'उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना हुई। मेक्डानेल को 'हिन्दू समर्थक क्षत्रप' और 'इस्लाम का दुश्मन' कहा गया। इटावा से निकलने वाला 'अल-बशीर' ने सरकारी आदेश के विरोध में कोई सौ के लगभग लेख प्रकाशित किए। परिणाम यह हुआ कि सरकारी आदेश ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया।

मेक्डानेल के आदेश के बाद हिन्दुस्तानी जबान की हैसियत में परिवर्तन यह आया कि लिखावट के स्तर पर उसे फारसी के साथ नागरी में भी लिखने की छूट मिली, पर भाषा के स्तर पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भाषा पूर्ववत् अरबी-फारसी शब्दों से लदी-फदी ही रही।

यह स्थिति महात्मा गाँधी के हिन्दुस्तानी को अपनाने के पहले तक रही। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के सह-सम्बन्ध और साम्राज्य को लेकर समय-समय पर जिन राजनेताओं और बुद्धिजीवियों ने विचार व्यक्त किए हैं, उनमें गाँधी जी ने बहुत विस्तार से इस पर विचार किया है। 1920 में हिन्दुस्तानी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की भाषा बनी। जबान के तौर पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द से आज जो हम आशय ग्रहण करते हैं, वह गाँधी जी का मुख्य रूप से दिया हुआ है। गाँधी जी हिन्दुस्तानी के रूप में जिस जबान को राष्ट्रभाषा के तौर पर देखने का सपना देखते थे, वह हिन्दी और उर्दू के अतिवाद से मुक्त सहज और आम लोगों की जबान थी, जिसमें संस्कृत के शब्द भी रह सकते थे और अरबी-फारसी के भी, बशर्ते कि वे आम लोगों की समझ में आ रहे हों। यही जबान पूरे देश में चल रही थी। उन्होंने कहा—''मुझे इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानी समस्त भारतीयों के लिए सबसे उपयुक्त अन्तर्प्रान्तीय भाषा होगी।''

3 जुलाई, 1937 के 'हरिजन सेवक' में गाँधी जी ने लिखा—''मेरा विश्वास है कि : 1. हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू शब्द उस एक ही जबान के सूचक हैं, जिसे उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमान दोनों बोलते हैं, और जो देवनागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती है। 2. इसी भाषा के लिए उर्दू शब्द शुरू होने से, पहले हिन्दू-मुसलमान दोनों इसे 'हिन्दी' ही कहते थे।''

महात्मा गाँधी और वर्तमान चिन्तन

प्रदीप जुगरान*

भारतीय सन्दर्भ में जहाँ परम्पराएँ तथा मैथोलॉजी की पराकाष्ठा पर तर्क भी घुटने टेकता है, जहाँ पारस्परिक रूप से परमसत्ता हेतु निवेदन प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ 'महात्मा गाँधी' नाम से एक साधारण मनुष्य जन-जन का पथ-प्रदर्शक हो गया। आमजन ने उसे 'बापू' नाम से सर्वसम्मान दिया। सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीका प्रवास से वापस आकर जननायक के रूप में वे प्रतिष्ठित हुए, लेकिन उससे पूर्व दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अपनी विलक्षणता, सरलता से सामान्यजन के हृदय में स्थान बनाया। इतने लम्बे समय के बाद सामान्यतः किसी भी बड़ी हस्ती का नाम आमजन के मन में धुँधला हो जाता है, परन्तु गाँधी जी अपने कार्यों तथा विचारों से वैश्विक आधार पर वर्तमान हैं। उनके वैचारिक परिणयन की जितनी आवश्यकता आज है उससे कहीं ज्यादा प्रासंगिकता हमें भविष्य में दृश्यमान होगी। मिथकीय रूप में कई पूज्य पुरुषों की देवरूप में आराधना होती है, परन्तु गाँधी जी का प्रत्येक मन में जो स्थान है वह उस देवपूजा से कहीं अधिक है।

गाँधी जी उत्कृष्ट साहित्यकार भी थे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में उन्होंने आमजन की समस्याओं को उठाया। समन्वय की जो भावना हमें पूर्ववर्ती गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखती है, वही स्वरूप गाँधी जी में दृश्यमान होता है। गाँधी जी भगवद्गीता के कर्मवाद से अति प्रभावित रहे। उनके जीवन में निम्न पुस्तकों का प्रभाव रहा[1] – बाइबिल और ड्यूटीज ऑफ मैन (लेखक–मजीनी), ऑन द ड्यूटीज ऑफ सिविल डिसओबीडियन्स (लेखक–एच.डी. थोरो), द की टू थियोसॉफी (लेखिका–मैडम ब्लावट्स्की), पॉवर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया (लेखक–दादाभाई नौरोजी), द लाइट ऑफ एशिया (लेखक–एडिवन आर्नल्ड), अनटू द लास्ट (लेखक–एडिवन आर्नल्ड) आदि। इस प्रकार गाँधी जी विश्व के सभी साहित्य से

हिन्दी विभाग, हे.न.ब.ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल,
Email : pradeep.sharma87pj@gmail.com. मो. 9456580462, 7467841201

परिचित रहे एवं आदर्श को ग्रहण किया। जब भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत होकर आमजन ने आतंकवाद और हिंसावाद के रास्ते का वरण किया तब गाँधी जी ने 1908 में लन्दन से दक्षिण अफ्रीका जाते समय जहाज पर ही 'हिन्द स्वराज' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। इस पुस्तक को सर्वोदय विचार का घोषणा-पत्र माना गया था। इसमें घृणा के स्थान प्यार, दूसरों की हत्या के स्थान पर आत्म बलिदान और पशुबल की जगह आत्मबल का सन्देश प्राप्त होता है। दक्षिण अफ्रीका से वकालत छोड़कर अपने देश में आमजन को आवाज देने हेतु वे 9 जनवरी, 1915 को भारत लौटे।

महात्मा गाँधी ऐसे युग पुरुष थे जिन्होंने सुसुप्त भारत को नींद से जगाया। गाँधीजी ने आमजन के बीच पहुँचकर सत्य, अहिंसा तथा प्रेम की अलख जगाई। ''ऐसे युग पुरुष कभी-कभी जन्म लेते हैं जो समस्त राष्ट्र जीवन को बड़े ही क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तित कर देते हैं और जिनके अवतरण से समाज में नए मूल्यों एवं आदर्शों की प्रतिष्ठा होती है।''[2] असहाय के लिए वे पिता समान 'बापू' तथा समाज में आदर्श मूल्यों के मार्गदर्शक रूप में 'महात्मा' थे। गाँधी जी ने देश को विश्वगुरु तथा बन्धुत्व की पताका लहराने के लिए कार्य किया।

राम, कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द की भूमि पर महात्मा गाँधी के रूप में शताब्दी के वैश्विक नायक का पदार्पण हुआ। वे शंकराचार्य के पदचिह्नों पर चलकर देश को संगठित करने हेतु प्रयासरत रहे। शंकराचार्य जी ने देश के चारों कोनों में अकर्मण्यता एवं वैचारिक वैमनस्यता के निवारण हेतु यात्रा की और चार मठ स्थापित किए। उसी प्रकार गाँधी जी ने जन-जन तक अपने विचार पहुँचाने, उनकी समस्या सुनने तथा देश को एकजुट करने हेतु अहमदाबाद में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की तथा कोलकाता, वाराणसी, हरिद्वार भ्रमण के साथ अन्त में मद्रास (चेन्नई) की यात्रा की। इस यात्रा काल में गाँधी जी ने लोगों के विचारों, उनकी समस्याओं, देश की वस्तुस्थिति को समझा-परखा और निष्कर्ष निकाला कि देश की समृद्धि तभी सम्भव है जब सभी लोग संगठित रहें।

गाँधी जी समाज को स्वावलम्बी बनाने तथा सत्य, अहिंसा, प्रेम, कर्म की महत्ता पर समाज को प्रेरित करते रहे। स्त्री-शिक्षा तथा समाज के अन्तिम व्यक्ति हेतु वे हमेशा चिन्तित रहे। वे सत्य तथा अहिंसा को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते थे जिससे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में न्याय की स्थापना हो। अहिंसा से उनका अभिप्राय ''विरोधी को कष्ट देकर नहीं अपितु स्वयं अपने-आपको कष्ट देकर सत्य का समर्थन करना है।''[3] वस्तुतः ''अहिंसा प्रत्येक प्राणी के विरुद्ध द्वेष का अभाव है, यह प्रगतिशील दशा है इसका अर्थ चेतन रूप से कष्ट भोगना है। अहिंसा अपने सक्रिय रूप में जीवन के प्रति सद्भावना है। यह शुद्ध प्रेम है।''[4] उनका कहना था कि स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, अहिंसक जीवन, सत्य का प्रयोग, आपसी बन्धुत्व के पोषक द्वारा

ही देश श्रेष्ठ स्तर को प्राप्त होगा। शिक्षा में उन्होंने बुनियादी शिक्षा को तब भी जोर देकर अपनाने हेतु प्रेरित किया। वर्तमान भारतीय नेतृत्व भी बुनियादी शिक्षा हेतु आवाज उठा रहा है जो रोजगार साधन हेतु उचित प्रयास है।

गाँधी जी ने भारत आकर अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत किया। वे कहते थे कि जब तक देश के प्रत्येक व्यक्ति के शरीर पर पूरे कपड़े न हों मैं कैसे अधिक वस्त्र धारण कर सकता हूँ। फलतः उन्होंने अपना जीवन-दर्शन सीमित संसाधनों को समर्पित किया और खादी वस्त्र पहने तथा स्वयं खादी कातने लगे। स्वरोजगार की भावना तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए वे जागृत करते रहे। उनका कहना था ''खादी ने गरीबों के लाभ के लिए कुछ करके दिखा दिया, अब हमें यह दिखाना होगा कि गरीब स्वावलम्बी कैसे बन सकते हैं? खादी अहिंसा का प्रतीक कैसे बन सकती है? यही हमारा असली काम है। इसमें हमें अपनी श्रद्धा का प्रत्यक्ष प्रमाण देना होगा"।[5] वस्तुतः स्वावलम्बन के लिए इस प्रकार के लघु उद्योग तथा उनकी अनिवार्य प्रयुक्तता आवश्यक है।

समाज के अन्तिम जन जिसे मूलभूत आवश्यकताओं हेतु अभावग्रस्त जीवन जीना पड़ता है उसके लिए गाँधी जी प्रयासरत रहे। जाति-प्रथा को उन्होंने नासूर के समान माना। उनका कहना था कि पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ने तो कर्म के वितरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का निर्धारण किया, लेकिन जन्म से ही किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण करना अनुचित है। अतः उन्होंने उन अन्तिमजन, पिछड़ेजन को आवाज देने हेतु 'हरिजन' का प्रचार किया। समाज की अनेकानेक अनुचित प्रथाओं के वे विरोधी रहे। मैला उठाने वाली प्रथा का उन्होंने सिरे से विरोध किया। वे कहते थे कि जब शौचादि क्रिया स्वयं करते हैं तो उसे साफ भी स्वयं करना चाहिए। गाँधी जी श्रेष्ठ विचारों को अपने जीवन में उतारकर समाज हेतु अनुमोदन करते थे। उनके ये सद्विचार ही उन्हें मूल्यों का श्रेष्ठवेत्ता साबित करते हैं।

गाँधी जी ने शिक्षा, भाषा, स्वदेशी आत्मनिर्भरता, सर्वोदय समाज पर अनेकानेक श्रेष्ठ विचार दिए जिन्हें जीवन-मूल्यों के रूप में हम अपने जीवन में उतारते हैं। यद्यपि इनमें से अनेकानेक स्तर पर सुधार की आवश्यकता है। समय के महत्त्व को उन्होंने आवश्यक माना और उन्हें पता था कि जहाँ तक वे नहीं पहुँच पा रहे हैं वहाँ उनके शब्द उनकी आवाज बनेंगे। इसलिए वे लेखन-कार्य में संलग्न रहते थे। समय का सदुपयोग वे लेखन द्वारा करते थे। यात्रा के दौरान उन्होंने 'हिन्द स्वराज' पुस्तक लिखी तथा 'यंग इण्डिया' नामक पुस्तक उन्होंने सलाखों के पीछे लिखी। विलक्षणता की अतिशयता इतनी थी कि वे दोनों हाथों से लिखते थे ताकि एक हाथ के थकने पर समय बर्बाद न हो। इस प्रकार के विरले महापुरुष हमारे देश की समृद्धता के मूल स्तम्भ हैं। उनके श्रेष्ठ विचारों की परिणति हमारे देश के साथ-साथ विश्व समुदाय को

श्रेष्ठ दर्शन से परिचित करवाता है। सम्भवतः स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गाँधी ही ऐसे लोकनायक हुए हैं जो न केवल देश में अपितु विश्व में भारतीय संस्कृति, परम्परा, सहृदयता, बन्धुत्व का डंका बजाकर श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शन द्वारा लोगों को प्रभावित करने में समर्थ रहे हैं।

गाँधीजी का मानना था कि देश में स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब हिन्दुस्तान में विचारों का आदान-प्रदान उनकी अपनी भाषा में हो सके। इसके लिए एक भाषा की अवधारणा स्पष्ट थी। उनका कहना था कि ''मुझे अपनी मातृभाषा से उसी प्रकार चिपटे रहना चाहिए जिस तरह मैं अपनी माता के स्तनों से चिपटा रहता हूँ चाहे उसमें कितने ही दोष हैं, वही मुझे जीवनदायक दुग्ध प्रदान कर सकती है।''[6] हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो भारत में अधिकांश लोगों द्वारा लिखी, बोली तथा समझी जाती है। अनेकानेक क्षेत्रीय बोलियों के समन्वय से समाज का हर तबका इसका प्रयोग करने में समर्थ है। हिन्दी भाषा को वे जन-जन की भाषा मानते थे। वे लोकभाषा तथा हिन्दी भाषा के हिमायती थे क्योंकि उन्हें पता था कि देश की एकभाषा होने से ही समाज और राष्ट्र संगठन को प्राप्त होगा। एकजुटता, भाईचारा तथा अनेकता में एकता की भावना भी तभी साकार होगी।

गाँधी जी अन्तिमजन के हित की बात करते थे और इसी वर्ग से उन्हें ज्यादा उम्मीद भी थी। उनकी यात्राओं का उद्देश्य भी यही था कि वे आमजन को जान सकें। आमजन की मनःस्थिति तथा तत्कालीन परिस्थिति को जानने का एकमात्र यही उपाय था। अभाव की तकलीफ पर उनके विचार स्पष्ट थे ''मेरी राय में न सिर्फ भारत की, बल्कि सारी दुनिया की अर्थ-रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में हर एक को इतना काम मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने की जरूरतें पूरी कर सके। यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियन्त्रण में रहें।''[7]

गाँधी जी ने एक विशाल वैचारिक दृष्टि को अपनी यात्राओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। अपनी वेशभूषा, अपनी भाषा तथा सरल स्वभाव के कारण वे जन-जन के 'बापू' हो गए। दक्षिण अफ्रीका में अपना जादू बिखेरकर वे अपने देश के लिए वरदान साबित हुए। वे ऊँच-नीच का भेद, जातिगत वैमनस्य तथा हिन्दू-मुस्लिम अविश्वास मिटाने हेतु सदैव प्रयासरत रहे। वे देश की समृद्धि गाँवों से मानते थे और किसानों के लिए वे सदैव चिन्तनशील रहे। ''गाँधी का दर्शन जीवन के सर्वांगीण विकास से अनुप्राणित था। उनके चिन्तन के अन्य स्तम्भों की भाँति अर्थ-सम्बन्धी विचार भी अहिंसा, सत्य, नैतिकता से ओतप्रोत थे। गाँधी के सुझाव, वास्तविकता और सामयिक अनुभवों पर आधारित हैं। उनके विचार समय की चुनौतियों, वैयक्तिक व्यवस्थात्मक आवश्यकताओं और मानवता की प्राथमिकताओं से प्रेरित रहे।''[8] उनका

मानना था कि भारत गाँवों में ही बसता है। अस्तु वर्तमान में देश की राजनीति, शिक्षा तथा सामाजिकता पर उनके विचारों की स्पष्ट छाप है, और हमेशा रहेगी।

वर्तमान भारतीय सन्दर्भ तथा अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भ में गाँधी जी के विचारों तथा उन्हें ग्रहण करने की अत्यन्त आवश्यकता है। वस्तुतः वर्तमान में जो उदारीकरण, वैश्वीकरण, निजीकरण के सन्दर्भ में शोषण तथा विषमता का साम्राज्य फैल रहा है, उस पर गाँधी जी के विचारों से ही पार पाया जा सकता है। अतः समता के साथ स्वतन्त्रता, विज्ञान के साथ अध्यात्म, व्यष्टि के साथ समष्टिहित तथा सर्वजन समभाव की भावना सामाजिक हित के लिए अपरिहार्य है। आतंकवाद, सेक्युलरिज्म, अफसरशाही, भ्रष्टाचार, स्वच्छता, सन्त्रास, घर वापसी आदि ऐसे मुद्दे हैं जिन पर गाँधीवादी दर्शन से विचार करें तो प्रत्येक समस्या का समाजोपयोगी समाधान प्राप्त हो जाएगा। आवश्यकता है सहृदयता से उसे ग्रहण करने की। देश में स्वच्छता, मैला प्रथा आदि के शमन हेतु सरकार तथा समाजसेवी संस्थाओं द्वारा सकारात्मक पहल ने न केवल उन विचारों को आगे बढ़ाया है अपितु छात्र, युवा, महिलाओं तथा समाज के हर वर्ग को भी प्रेरित किया है। वर्तमान 2015 का यह वर्ष युवा वर्ग में एक सकारात्मक पहल के साथ प्रारम्भ हो रहा है। प्रत्येक नवयुवक एक सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ अपने देश के लिए, समाज के लिए प्रेरित होकर कुछ करना चाहता है। इसके लिए आवश्यकता है एक मार्ग की जो उन्हें इस प्रकार सकारात्मक तरीके से प्रेरित करता रहे और वह मार्ग है गाँधी जी के विचारों का मार्ग।

सन्दर्भ सूची

1. साभार अमर उजाला, देहरादून संस्करण, 8 जनवरी, 2015, पृ. 14
2. समाज एवं संस्कृति, दशरथ जैन, पृ. 147
3. उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, डॉ. के.पी. पाण्डेय, पृ. 311
4. वही, पृ. 310
5. खादी क्यों और कैसे?, गाँधी (1957), पृ. 197
6. उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, डॉ. के.पी. पाण्डेय, पृ. 317
7. गाँधी जी का सामाजिक चिन्तन, डॉ. एम.के. मिश्रा, डॉ. कमल दाधीच, प्रथम संस्करण 2011, भूमिका।
8. वही, पृ. 242।

'देखा मैंने': एक प्रामाणिक दस्तावेज़

क्रान्ति कनाटे*

एक लम्बे समय तक भारतीय राजनीति में सक्रिय रहने के बावजूद जब-तब हाशिए पर धकेल दिए गए, एक समय के कर्मठ काँग्रेसी मोरारजी देसाई के निजी सचिव हसमुख शाह की आत्मकथ्यात्मक पुस्तक 'दीठुं में' का सुनन्दा भावे कृत हिन्दी अनुवाद है ''देखा मैंने'। पुस्तक को पढ़ना अपने-आप में एक अनुभव से गुजरना है। लगभग 350 पृष्ठ घेरती इस पुस्तक का कालखण्ड लम्बा है। गुजरात के सौराष्ट्र में स्थित पर छोटे-से गाँव बजाणा के इतिहास से आरम्भ हुई यह यात्रा धीरुभाई अम्बानी पर जाकर समाप्त होती है। दो भागों में विभक्त इस रोचक पुस्तक के पहले भाग में 34 प्रकरण हैं। प्रथम भाग मूलतः लेखक के पारिवारिक परिचय, उनके विद्यार्थी जीवन से जुड़ी बातों तथा उनके व्यावसायिक जीवन-चक्र के आरम्भ से निवृत्ति तक का लेखा-जोखा है।

1945-50 का समय लेखक ने लखतर में गुजारा-जो उस समय ब्रिटिश हिन्द से काठियावाड़ में दाखिल होते ही पहला रेलवे स्टेशन था, जहाँ से उस समय लोकल, फास्ट, मिक्स्ड तथा मेल ट्रेनें गुजरती थीं। इस स्टेशन पर एक स्मृति स्तम्भ है जो किसी अँग्रेज की यात्रा के दौरान ट्रेन में मर गए कुत्ते का था। लगभग पचास वर्ष बाद जब हसमुख शाह सपरिवार फिर लखतर गए तो उन्होंने मिट्टी, में दबे उस स्मृति-स्तम्भ को घण्टों की मेहनत से साफ कर पाया कि उस पर लिखा था, 'हेंकोक साहब के प्रिय श्वान की 4 जनवरी, 1876 के दिन मृत्यु हो गई'। हसमुख जी के दादा जी कभी लखतर के स्टेशन मास्टर थे और वहाँ की रानी के सलाहकार भी। लेखक लिखते हैं कि, 'उन दिनों बड़े शौक से बनाई जाने वाली दादा की कुण्डली एक फुट चौड़ी और पचास फुट लम्बी है। उसमें अलग-अलग गणनाएँ और उससे निकाले गए तर्क अलग-अलग रंगों में कलात्मक रूप से सजाए गए हैं। आज हमारे बच्चे सोच रहे हैं

*सम्पर्क : 203, टॉवर-3, साईनाथ स्क्वेयर, मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चौकड़ी, वड़ोदरा 390021 मो. 09904236430.

कि इस कुण्डली को फ्रेम करके दीवानखाने में कैसे सजाया जाए'। अपनी मिट्टी, अपने बुजुर्गों से जुड़ाव खास गुजरातीपन है, यहाँ एक लम्बे समय से रहते हुए मैंने तीव्रता से अनुभव किया है कि गुजराती लोग समृद्धि और सम्पन्नता के किसी भी शिखर पर क्यों न पहुँच जाएँ अपने गाँव जिसे यहाँ 'वतन' कहाँ जाता है को कभी नहीं भूलते। ग्राम्य जीवन की एक रोचक परन्तु मानवीय झाँकी इस प्रथम भाग में दिखाई देती है जो लेखक के साथ पाठकों को भी नॉस्टेल्जिक बना देती है।

1957 में अत्यन्त अल्प समय हेतु जूनागढ़ के एक महाविद्यालय में व्याख्याता के पद पर कार्य कर हसमुख शाह अहमदाबाद आकर 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी' के काम में जुड़ गए जहाँ उन्हें गाँधी साहित्य के अध्ययन का सुअवसर मिला। 1963 में वे मोरारजी भाई के सेक्रेटरी बने। यह वह समय था जब कामराज योजना के अन्तर्गत मोरारजी भाई सत्ता में तो नहीं थे परन्तु काँग्रेस के लिए काम अवश्य कर रहे थे। नेहरू जी की मृत्यु पर 'तीन मूर्ति भवन' जाने वाले सबसे पहले व्यक्तियों में मोरारजी के साथ हसमुख शाह थे। उसके बाद जनवरी 66 में शास्त्री जी के निधन के बाद सत्ता के लिए जो गतिविधियाँ हुई उन्हें भी शाह ने नजदीक से देखा और उस पर निष्पक्ष रूप से लिखा। मोरारजी भाई को उपप्रधान मन्त्री पद से हटाया जाना और फिर आपातकाल के बाद उनका प्रधानमन्त्री बनाना शाह इस राजनीतिक उथल-पुथल के साक्षी रहे हैं।

'देखा मैंने' का दूसरा भाग आरम्भ होता है जनता सरकार के नवनिर्वाचित प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई द्वारा की गई 'मंत्रिमण्डल की रचना' के साथ। मोरारजीभाई के पहले इस देश ने तीन प्रधानमन्त्री देखे और बाद में लगभग दस, परन्तु लगता नहीं किसी की अथश्री यूँ भी हुई होगी। 24 मार्च, 77 को हसमुख जी आई.पी.सी.एल. के किसी काम से दिल्ली गए और आदतन मोरारजी भाई से मिलने चले गए जिनका उसी सुबह जनता दल के नेता के नाते चयन हुआ था। उन्होंने लेखक से कहा, 'लिखो'। तब तक हसमुख भाई नहीं जानते थे कि वे नए मन्त्रियों की सूची बना रहे थे। यह सूची उपराष्ट्रपति बी.डी. जत्ती को टाइप करके देनी थी। इस सूचना के साथ कि अगली सुबह दस बजे मन्त्रिमण्डल की शपथ विधि होगी। रोलर जाम हुए जर्जर टाइपराइटर पर लेखक ने जैसे-तैसे सारे नाम लिखे और गहरी नींद में सो रहे मोरारजी भाई को जगाकर उनके हस्ताक्षर करवाए। मोरारजी भाई ने सूची यह कहते हुए नहीं पढ़ी कि 'हमें तुम पर पूरा भरोसा है'। अब हसमुख जी का सेंस ऑफ ह्यूमर देखिए बड़े मजे से कहते हैं, 'हमें अगर पता होता कि ये बिना पढ़े हस्ताक्षर करने वाले हैं तो, दो-चार नाम हम अपनी पसन्द से न जोड़ देते'। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह सूची लेकर मोरारजी देसाई का पुराना वफादार सेवक होशियार सिंह एक खटारा साइकिल पर रात दस बजे जत्ती जी के निवास स्थान गया तो पहले उसे अन्दर जाने से रोक दिया गया था।

यह पुस्तक हमें ऐसी बहुत-सी घटनाओं की जानकारी देती है जिनकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की होगी। 27 मई, 64 को नेहरू जी के देहावसान के बाद किस तरह से सशक्त उम्मीदवार होते हुए भी मोरारजी देसाई को साइड लाइन किया गया। कामराज

को लगा कि शास्त्री जी प्रधानमन्त्री बन जाएँ तो वे परदे के पीछे से खुद शासन पर काबू रख सकेंगे। लेखक के अनुसार शास्त्री जी ने 'एक बहुत विलक्षण चाल बखूबी चली' उन्होंने इन्दिरा जी के पास जाकर कहा, 'अब आप मुल्क को सँभाल लीजिए' क्योंकि वे जानते थे यदि प्रतिस्पर्धा हुई तो वे मोरारजी भाई को हरा सकेंगे, इन्दिरा जी को नहीं। उन दिनों भारत में के.जी.बी. और सी.आई.ए. दोनों की बड़ी उपस्थिति थी, इनमें से कुछ की परोक्ष तो कुछ की अपरोक्ष तरीके से राजनेताओं तक बड़ी पहुँच थी, किसी का भी समर्थन मोरारजी को नहीं मिला। 1962 से ही रूस और अमेरिका मोरारजी भाई के पक्ष में क्यों न थे इसका उल्लेख मोरारजी भाई के निजी सचिव विश्वनाथ टोणपे से प्राप्त होता है, किन्तु उसकी जानकारी के लिए आपको यह पुस्तक पढ़नी होगी।

यह पुस्तक और भी बहुत से तथ्यों को जानने के लिए पढ़ी जानी चाहिए। यथा 1979 में जब भारत के प्रधानमन्त्री के नाते मोरारजी भाई रूस गए तब भारत से सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाने की दृष्टि से रूस ने अपने चन्द्रयान में एक भारतीय नागरिक को ले जाने का प्रस्ताव रखा, प्रो. सतीश धवन जो इस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य थे (ज्ञात रहे कि प्रो. धवन 42 वर्ष की आयु में इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स के निदेशक बने तथा तीस वर्ष तक अन्तरिक्ष आयोग के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे) इसके पक्ष में न थे, क्योंकि उनके अनुसार इससे भारत के अन्तरिक्ष विज्ञान को तब कोई लाभ मिलने की सम्भावना नहीं थी, इसकी उपयोगिता मात्र वाहवाही तक ही सीमित रहती। मोरारजी की रूसी नेताओं ब्रेजनेव, कोसीजिन, ग्रेमिको से होने वाली बैठक से पहले धवन ने उन्हें अपने विचार से अवगत करवाया। मोरारजी भाई के पास विदेश मन्त्री अटलबिहारी बाजपेयी तथा विदेश सचिव जगत मेहता से बात करने का भी समय न था। क्रेमलिन के ऐतिहासिक सभाखण्ड में ब्रेजनेव ने आरम्भ में ही यह प्रस्ताव रखा, सोचा होगा वातावरण सौहार्दपूर्ण होगा तो गम्भीर मुद्दों पर चर्चा की जा सकेगी। मोरारजी भाई की नकार से ब्रेजनेव इतने हक्का-बक्का हुए कि उन्हें सिगरेट पीनी पड़ी। हालाँकि डॉक्टर की सलाह पर उन दिनों वे धूम्रपान नहीं करते थे। मोरारजी भाई की मितव्ययिता, सादगी भरे जीवन तथा उनके प्रखर परन्तु नम्र स्वभाव को जानने के लिए भी 'देखा मैंने' को पढ़ा अवश्य रूप से पढ़ा जाना चाहिए।

'देखा मैंने' में हमारी पिछली पीढ़ी के दिग्गज माने जाने वाले राजनेताओं के ऐसे बहुत से पक्ष हैं जो हमारे अनजाने हैं। अब चौधरी चरण सिंह को ही लीजिए, लेखक के अनुसार चौधरी साहब की दुनिया बहुत छोटी थी, एक बार कम्पूचिया का प्रश्न आया तो पूछ बैठे, 'यह कम्पूचिया क्या बला है?' यह तो फिर भी विदेश हुआ वे तो यह भी कह सकते थे—'मुझे मुम्बई जाना चाहिए, मैं दक्षिण में गया ही नहीं हूँ' परन्तु लेखक चौधरी साहब के प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हुए यह भी कहते हैं कि 'देश के केन्द्रिक मंच पर उन्होंने देर से प्रवेश किया। देश को उन जैसे ईमानदार नेता और सक्षम प्रशासक जिसके पाँव जमीन पर जमे थे, की सेवा का लाभ न मिल सका। चौधरी जी सच्चे अर्थ में धरतीपुत्र थे'।

पुस्तक के दूसरे भाग में कुल-जमा तीस प्रकरण हैं जिनमें लेखक ने इन्दिरा गाँधी और मदर टेरेसा और धीरू भाई अम्बानी के स्वभाव पर तो लिखा ही है परन्तु देविका रानी के जीवन की एक झाँकी भी दी है जिनसे प्रतिवर्ष उनका मिलना हुआ करता था। पुस्तक में हसमुख शाह द्वारा की हुई देशी-विदेशी यात्राओं के भी संक्षिप्त विवरण हैं। इस पुस्तक के माध्यम से यह भी जानने को मिला कि प्रशासनिक सेवा में उच्च पदों पर कार्य करते हुए भी तथा अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद हसमुख जी के भीतर भारतीय कला, संगीत तथा अपनी संस्कृति के प्रति अभिमान बना रहा तथा वे निरन्तर इस क्षेत्र में भी अपना योगदान देने का प्रयास करते रहे। 1889 में मौलाबख्श वड़ोदरा में भारत के प्रथम म्यूजिक कॉलेज के आचार्य पद पर थे। लेखक को लगा क्यों न वड़ोदरा के परफार्मिंग आर्ट्स विभाग को 1989 में मौलाबख्श का तैलचित्र उपहार में देकर संस्था का शताब्दी वर्ष मनाया जाए। उन्हें मालूम हुआ कि हॉलैण्ड के स्टाट म्यूजियम में मौलाबख्श की रोबदार दाढ़ी-मूँछोंवाली लाल साफा बाँधे, जरीवाले अंगरखे में, मोतियों की माला पहनी तस्वीर है। तस्वीर तो नहीं मिली पर इसके लिए उन्होंने पेरिस, मिलान के जो चक्कर काटे और जो जमीन-आसमान एक किए उसे हमारा नमन है।

'देखा मैंने' एकदम सीधी-सपाट शैली में लिखी गई आत्मकथात्मक-संस्मरणात्मक पुस्तक है जो हमें एक ऐसे विश्व में ले जाती है जिसे भारत के एक सजग नागरिक के नाते हमें जानना भी चाहिए। एक पाठक के नाते यह अवश्य लगा कि प्रथम भाग थोड़ा संक्षिप्त होना चाहिए था। एक बात यह समझ में नहीं आई कि जब पुस्तक का शीर्षक 'देखा मैंने' है तो हर जगह लेखक ने स्वयं के लिए 'हम' सर्वनाम का प्रयोग क्यों किया। यह तो हुई पुस्तक विषयक चर्चा। अब अनुवाद विषयक सबसे पहले तो एक पठनीय-संग्रहणीय पुस्तक को गुजराती से हिन्दी में अनूदित करने का जो महत प्रयास सुनन्दा भावे ने किया इसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं। जब शाह वडोदरा में आई.पी.सी.एल. में अध्यक्ष तथा प्रबन्ध निदेशक के रूप में कार्यरत थे तब प्रबुद्ध सुनन्दा भावे भी वहाँ सेवारत थीं, अतः इस पुस्तक से उनका एक भावात्मक जुड़ाव भी रहा। अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, बाँग्ला की नहीं अपितु अन्य विदेशी भाषाओं की भी पुस्तकें बहुतायत से गुजराती में अनूदित होती रहती हैं परन्तु गुजराती से हिन्दी में प्रवेश की गति कम ही रही है। इस ओर सुनन्दा भावे ने निश्चित ही एक सेतु का काम किया है। संजय बारू की पूर्व प्रधानमन्त्री मनमोहन पर लिखी पुस्तक 'द एक्सिडेण्टल प्राइम मिनिस्टर' पढ़ने के बाद तो इस पुस्तक को पढ़ना मेरे लिए एक मजे का अनुभव रहा और आँख खोलने वाला भी। पुस्तक को पढ़ते हुए नहीं लगा कि हम कोई अनूदित कृति पढ़ रहे हैं। 'देखा मैंने' ने एक मूल कृति को पढ़े जाने का आनन्द दिया। अनुवादक सुनन्दा भावे तथा प्रभात प्रकाशन का हार्दिक अभिनन्दन। अखरने वाली एक बात का उल्लेख भी अन्त में करती चलूँ कि पुस्तक में जैसे लेखक का सचित्र परिचय फ्लैफ पर दिया गया है, वैसे अनुवादक का भी दिया जाना चाहिए था।

कविता क्या है**

अजिता त्रिपाठी*

परिवर्तन मनुष्य जीवन का सत्य है, अतः कविता भी पल-पल परिवर्तत होती रहती है। मनुष्य और कविता का सम्बन्ध जीवन और जल जैसा अटूट है। मानव-विकास की तरह कविता-विकास का भी अपना एक इतिहास है। इसी विषय को केन्द्र में रखकर काव्यशास्त्रीय कृति 'कविता क्या है' की रचना की गई है। इसके माध्यम से कृतिकार विजय रंजन ने कविता के जन्म से लेकर विकास तक की यात्रा को एक सफल यात्री की तरह तय किया है। इस यात्रा में अनेक कठिनाइयाँ आई हैं, जिसे लेखक ने हमारे समक्ष रखा है और शोधार्थी की तरह उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है।

समीक्ष्य कृति के पूर्वार्चिक भाग में काव्य को मिथकीय आधार पर परखते हुए लेखक ने कहा है–

''मेरे विचार से तद्गत मिथकीय सत्त्वापेक्षा से मात्र इतना अभीप्सित है कि लोक-कल्याण, लोक-संग्रह, सात्त्विक जीवन राग ऋत आदि की जिस रचनाधर्मी मूल भावना से काव्य निःसृत हुए थे, उसी अनुभाव से सहयुजित रखा जाए काव्य / कविता को।' (कविता क्या है, पृ. 46)

मिथकीय आधारों पर माना जाता है कि कविता के उत्स के लिए माँ सरस्वती की कृपा आवश्यक है, क्योंकि माँ सरस्वती समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री देवी हैं। निराला भी माँ सरस्वती से यह वरदान माँगते हैं–

''नव गति, नव लय, ताल, छन्द नव
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द रव,
नव नभ के नव विहग वृन्द को

---

*हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्ति-निकेतन, प. बंगाल-731235, चलभाष : 09475171381

**समीक्ष्य कृति : 'कविता क्या है' (समालोचना कृति), कृतिकार : विजय रंजन, मूल्य : रु. 450/-, प्रकाशक : सरिता लोक सेवा संस्थान, सहिनवाँ, गोसैसिंहपुर, सुल्तानपुर (उ. प्र.-भारत)

नव पर, नव स्वर दे।
वर दे, वीणावादिनी वर दे।"

कविता का इतिहास बहुत पुराना है। हिन्दी कविता उसी प्राचीन इतिहास का एक अंग रही है। इतिहास के स्वरूप के साथ-साथ कविता भी अपना रूप बदलती रही है। कविता के माध्यम से हम तत्कालीन इतिहास को जान सकते हैं। कृति में कविता ऐतिहासिक आधारों पर अध्याय में यही विवेचित है।

लेखक ने दिखाया है कि किस तरह एक शिशु के जन्म से ही कविता का एक रूप लोरी उसे सुनाया जाता है। यहीं से हम कह सकते हैं कि एक शिशु में कविता का संस्कार भरा जाता है। कविता का इतिहास वेदों-पुराणों से होते हुए आज अपने नवीनतम रूप में लक्षित है।

आधुनिक युग में मनुष्य कृत्रिमता की ओर बढ़ता जा रहा है तो स्वाभाविक ही कविता पर भी इसका असर देखने को मिलता है। आज मनुष्य व्यापार-क्रिया की ओर बढ़ रहा है। इस व्यापार के खेल में उसने कविता को भी नहीं छोड़ा, किन्तु मनुष्य को यह समझना होगा कि कविता के अन्त के साथ ही उसका अन्त भी निश्चित है। कविता का कार्य है मानवता को उद्‌भासित करना। मानवता को साथ लेकर चलनेवाली कविता ही चिरकाल तक समाज में बनी रहेगी। समाज में रहकर ही कविता की सृष्टि की जा सकती है।

आगामी दो अध्यायों में कविता के स्वभाव की विवेचना है।

'साधारणीकरण' कविता का मुख्य स्वभाव है। साधारणीकरण 'मैं' और 'पर' के भाव को मिटाकर स्थिति के साथ अपनी साम्यता स्थापित करता है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है—''यह सिद्धान्त घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।'' (चिन्तामणि, भाग 1, 'साधारणीकरण और व्यक्ति—वैचित्र्यवाद, पृ. 155) साधारणीकरण के अतिरिक्त अन्य काव्य-तत्त्वों को लेखक ने विस्तृत रूप में समझाया है।

मेरे विचार से काव्य के प्रमुख तत्त्व 'शब्द तत्त्व', 'अर्थ तत्त्व' 'भाव तत्त्व', 'बुद्धि (विचार) तत्त्व', 'कल्पना तत्त्व', 'शैली तत्त्व' आदि हैं। 'शब्द' काव्य का शरीर है, 'अर्थ' काव्य रस है, 'भाव' आत्मा है, 'बुद्धि' सत्य और शिव का समन्वय है, 'कल्पना' सृष्टि है, तो 'शैली' अनुशासन है। इन तत्त्वों की विस्तृत विवेचना कृति में 'कविता : तात्त्विक आधार' अध्याय में है।

'कविता : पारिभाषिक आधार पर अध्याय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को रखते हुए लेखक ने अपना विचार भी रखा है, जिसमें मेरी समझ से लेखक ने कविता की सम्पूर्ण विशेषताओं को समाहित करने का प्रयास किया है, जो

उल्लेखनीय है—''निर्दोष गुणोंवाले शब्दों से संघटित सुविचारों से सुसज्जित, सत्—शिव—सुन्दर की ऊर्ध्ववाही ज्ञानशील, ऋतशील, नयशील, लोकमांगलीय आक्षरिक साधना और तद्गत पावन लोकसंग्रही रचना है 'साहित्य' औ...र ऐसे साहित्य की आह्लादकारी, भाव-प्रवण, कल्पनाशील, सहज, सरल अलंकृत लयात्मक विधा है कविता।'' (पृ. 262)

कृति : 'कविता क्या है' में लेखक ने अपने विचारों के साथ देश-विदेश के प्रसिद्ध काव्यज्ञों के विचारों को भी रखा है। इस दृष्टि से कृति के उत्तरार्चिक का अध्याय 'कविता : काव्यज्ञ-लोकमत के आधार पर' उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक में कहीं-कहीं भ्रमात्मक तथ्य भी हैं, जो मेरे विचार से मुद्रण दोष हैं। इन मुद्रण दोषों को अगले संस्करण में दूर करने की आशा के साथ अन्त में मैं यह कहना चाहती हूँ कि 'कविता क्या है' से काव्य-अध्येता अवश्य ही प्रेरणा लेंगे और अपनी काव्य-ऊर्जा को प्रज्वलित कर नवसाहित्य-सृजन में सहायक होंगे।

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन', का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है। मैं इसे शब्दशः पढ़ता हूँ और प्रसन्न होता हूँ कि इसके माध्यम से एक जरूरी कार्य सम्पन्न हो रहा है। आपके प्रयास की सफलता की कामना रहती है।

- सुरेशचन्द्र त्यागी, सम्पादक, अदिति, रामजीवन नगर,
चिलकाना रोड, सहारनपुर-247001.

निःसंदेह 'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक नाम के अनुरूप सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। अक्टूबर-दिसंबर के अंक में 'अपनी सीमाओं को लाँघती राजनीति' सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य श्री ब्रज बिहारी कुमार, 'भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण प्रामाणिक संस्कृताम्या के प्रत्यभिज्ञान की कार्य-योजना' श्री अम्बिकादत्त शर्मा, 'भारतीय इतिहास के मिथक और भारत का राष्ट्रजीवन' डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, 'चीनी नीति में नएपन की जरूरत' श्री शंकर शरण उल्लेखनीय हैं। - केशीकान्त शकुन, बी.-11, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002.

'चिन्तन-सृजन', अक्टूबर-दिसंबर 2017: विहंगम दृष्टि इसका संपादकीय परिप्रेक्ष्य राजनीति की दुर्दशा उत्तरोत्तर उसके घटते स्तर पर ध्यानाकर्षण करता है। राजनीति वैसे नीति, नियम, मर्यादा, शालीनता और सर्वोपरि जनता की अपेक्षाओं पर ध्यान केंद्रित करे, तो उसकी दुर्गति का ऐसा भयावह चेहरा दिखाई न पड़े। प्रतिदिन लाखों का खर्च एक दिन संसद चलने में होता है और इसका नतीजा ढाक के तीन पात। संपादक का मानना वाजिब है : ''संसद की कार्यवाही को नहीं चलने देने के पीछे राजनीतिक दलों के छोटे स्वार्थ हैं न कि देश और समाज से जुड़े मुद्दें''। इतना ही नहीं; अपने निहित स्वार्थ के लिए एक वर्ग को खुश करना और दूसरे वर्ग को कुचलना।

भारतीय मानस के वि-औपनिवेशीकरण के कारणों और परिणामों पर प्रो. अंबिकादत्त शर्मा ने प्रकाश डाला है। इसका मूल उद्देश्य है साम्राज्य विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष साधनों, तरीकों का इस्तेमाल कर अपने लाभ के लिए राजनीतिक-आर्थिकी का एक मजबूत तंत्र विकसित करना। परंतु ठीक इसके समानांतर यूरोपीकरण भी एक सांस्कृतिक साभ्यतिक गहन प्रक्रिया है। प्रो. शर्मा ने आधुनिकता के उज्ज्वल और अंधकारमय दोनों पक्षों पर ध्यान दिलाया है यह लेख उनके प्रकांड पांडित्य और असीम अनुभव का परिणाम है। शेष सभी लेख पठनीय, मननीय हैं। लेखक और संपादक को अशेष साधुवाद।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, बृन्दावन, राजेन्द्र पथ,
धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 82969875286.

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँः

पुस्तकेंः

देवनागरी लिपि आंदोलन का इतिहास, संपादकः रामनिरंजन परिमलेंदु, प्रकाशकः साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, 35, फीरोजाशह मार्ग, नयी दिल्ली-110001, प्रथम संस्करणः 2017, प.ठः 756, मूल्यः 650.00 रुपये।

गांधीवाद रहे ना रहे, संपादकः राजीव रंजन गिरि, प्रकाशकः अनन्य प्रकाशन, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करणः 2016, पृष्ठ : 136, मूल्यः 100.00 रुपये।

प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना (काव्यालोचना), संपादकः आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, प्रकाशकः नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नर्द दिल्ली-110002, प्रथम संस्करणः 2015, पृष्ठः 190, मूल्यः 395.00 रुपये।

पत्रिकाएँः

प्रवासी जगत, प्रवासी जगत का साहित्य, साहित्यकार व संस्कृति केंद्रित पत्रिका, खंड-1 अंक-1 सितंबर-नवंबर, 2017; संपादकः डॉ. गंगाधर वानोडे, प्रकाशकः अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठः 194, मूल्यः 40/- रुपये।

शैक्षिक उन्मेष, शिक्षा जगत की शोध एवं विचार केंद्रित पत्रिका, खंड-1 अंक-1, सितंबर-नवंबर, 2017; संपादकः प्रो. बीना शर्मा, प्रकाशकः विभागाध्यक्ष, अध्यापक शिक्षा विभाग द्वारा सचिव, हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठः 148, मूल्यः 40/- रुपये।

शोध पत्रिका वर्षः 68, अंकः 3-4, जुलाई-दिसम्बर, 2017; संपादकः जीवन सिंह खरकवाल, प्रकाशकः साहित्य संस्थान (इंस्टिट्यूट ऑफ राजस्थान स्टडीज); जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड-टू-बी-यूनिवर्सिटी), उदयपुर-313001 (राजस्थान), पृष्ठः 214, मूल्यः 200/- रुपये।

साहित्य-सम्पदा, हिन्दी साहित्यिक पत्रिका वर्षः 2, अंकः4, 15 दिसम्बर 2017; संपादकः पवन कुमार, प्रकाशकः स्वामी, मुद्रक व प्रकाशकः पवन कुमार द्वारा आटोमैटिक ऑफसैट प्रेस, गोहाना रोड, रोहतक से छपवाकर कार्यालयः 'साहित्य-सम्पदा', 210बी/34, नजदीक त्रिवेणी पार्क, जनता कॉलोनी, रोहतक स प्रकाशित, पृष्ठः 48, मूल्यः 30/- रुपये।

अक्षत-33 ललित निबंध एवं नवगीत की सांस्कृतिक पत्रिका, शरद 2017, सम्पादकः डॉ. श्रीराम परिहार, प्रकाशकः आजाद नगर, खण्डवा-450001, पृष्ठः 62, मूल्यः 25/- रुपये।

अंतिम जन, वर्ष-3, अंक-3, संख्या-26, मार्च-2014, प्रधान सम्पादकः मणिमाला, प्रकाशकः गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002, पृष्ठः 64, मूल्यः 10/- रुपये।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उेश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथाअध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in